हिन्दी त्रैमासिक

विवेक ज्योति

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

"मध्यप्रदेश शिक्षा विभाग के आदेश क्रमांक स / विधा / टा / ५६४
दिनांक ४ मार्च १९६४ द्वारा स्वीकृत"

श्रीरामकृष्ण–विवेकानन्द–भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी - फरवरी - मार्च १९६९

प्रधान सम्पादक एवं प्रकाशक
स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक • स्वामी प्रणवानन्द
सह-सम्पादक • सन्तोषकुमार झा

फोन : १०४६

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (मध्यप्रदेश)

अनुक्रमणिका

विषय | पृष्ठ

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(चतुर्थ तालिका)

१९६. श्री आशुतोष कुमार मिश्र, एडवोकेट, सीधी
१९७. , राजाराम गुप्त, मेज फैक्टरी, मन्दसौर
१९८. श्रीमती सविता बनर्जी, जशपुर नगर
१९९. प्राचार्य, लाहिड़ी महाविद्यालय, चिरमिरी
२००. डा० जी. पी. मुखर्जी, टी टी नगर, भोपाल
२०१. प्राध्यापक पशुपतिनाथ शास्त्री, चिरमिरी
२०२. ,, रमेश भारद्वाज, बड़वाह
२०३. ,, शिवमंगलप्रसाद मिश्र, चिरमिरी
२०४. प्राचार्य सुविमल चटर्जी, चिरमिरी
२०५. श्री शम्भूदयाल सांघी, इन्दौर सिटी
२०६. ,, जी. पी. तिवारी, मनोरमागंज, इन्दौर
२०७. ,, म. न. जोशी, स्नेहलतागंज, इन्दौर
२०८. ,, प्रभुदयाल सूरजभान, सियागंज, इन्दौर
२०९. ,, रामगोपाल चिरंजीलाल, सियागंज, इन्दौर
२१०. ,, बी. के. लक्ष्मीनारायण, हमीदिया रोड, भोपाल
२११. रामकृष्ण आश्रम विवेकानन्द ज्ञान मन्दिर, झाबुआ
२१२. श्री पुरुषोत्तम द्विवेदी, खातीपुरा, इन्दौर
२१३. ,, व्यंकटेश विष्णु द्रविड़, श्रमशिविर, इन्दौर
२१४. ,, शुभकरण पोद्दार, जेल रोड, इन्दौर
२१५. ,, हिम्मतलाल एंड कम्पनी, इन्दौर
२१६. ,, महेश शर्मा, रसविहार, इन्दौर
२१७. ,, एन एम. व्यास, रेसकोर्स रोड, इन्दौर
२१८. डा० जी. सी. सिंगल, जी.पी.ओ , इन्दौर
२१९. मेसर्स एलाइड इंडस्ट्रीज, जी.पी.ओ इन्दौर

" न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते "

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण - विवेकानन्द - भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ७] जनवरी - फरवरी - मार्च [अंक १

वार्षिक शुल्क ४) ❀ १९६९ ❀ एक प्रति का १)

अविवेकी और विवेकी

पराचः कामान् अनुयन्ति बालाः
ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् ।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा
ध्रुवम् अध्रुवेषु इह न प्रार्थयन्ते ॥

—अविवेकी पुरुष ब्राह्य भोगों के पीछे लगे रहते हैं, (अतः) वे मृत्यु के सर्वत्र फैले हुए पाश में पड़ जाते हैं । किन्तु विवेकी पुरुष अमरत्व को ध्रुव (कूटस्थ और अविचल) जानकर संसार के अनित्य पदार्थों में से किसी की इच्छा नहीं करते ।

— कठोपनिषद् , २।१।२

तैरना जानो

किसी गाँव में एक पण्डितजी रहते थे। उन्हें अपने ज्ञान का बड़ा घमण्ड था। जहाँ भी जाते, बातचीत का सिलसिला शुरू कर अपने पाण्डित्य की धाक जमाने की अवश्य कोशिश करते। लोग उनसे त्रस्त थे। परिचितों में से कोई भी उनसे बातें करना पसन्द नहीं करता। उन्हें आते देखकर लोग कन्नी काट जाया करते। पण्डितजी को लोगों का अपने प्रति रुख मालूम भी हो गया था, तथापि वे आदत से लाचार थे। उनका ख्याल था कि बिना पाण्डित्य के मानव जीवन वृथा है। उन्हें भक्ति, पूजा, उपासना आदि में कोई विश्वास नहीं था और वे जोर-शोर से बहस करते हुए अपनी बातों का प्रतिपादन किया करते।

एक दिन वे नाव में बैठकर कहीं जा रहे थे। उसमें एक और व्यक्ति बैठा हुआ था। पण्डितजी थोड़ी देर तो चुप बैठे रहे, पर उनके भीतर कुछ कुलबुलाने लगा। उन्हें लगा कि नाव में बैठा हुआ यह व्यक्ति मुझे नहीं जानता है। उन्होंने स्वयं होकर उसे अपना परिचय दिया और अपनी विद्वत्ता की धाक जमाने के लिए उससे पूछा–

"क्या तुमने वेद-वेदान्त, षड्दर्शन पढ़ा है ?"

"नहीं, महाराज !"

"ओफ् ओ !" पण्डितजी मुँह विचकाकर बोले, "तुम्हारा एक चौथाई जीवन वृथा ही गया। इतना दुर्लभ मानव-तन पाकर तुमने अपने को इस ज्ञान से वंचित रखा।" और ऐसा कहकर वे अपने शास्त्रीय ज्ञान का प्रदर्शन करने लगे।

थोड़ी देर बाद उन्होंने फिर पूछा, "क्या तुमने साहित्य-व्याकरण पढ़ा है ?"

"नहीं, महाराज।"

"हाय हाय !" पण्डितजी आक्षेप के स्वर में बोले, "तुम तो निरक्षर भट्ट ही रह गये। अरे, बिना साहित्य पढ़े क्या रसबोध होता है ? और बिना रसबोध के मनुष्य पशु के समान है। पशु भी इन्द्रियों का जीवन बिताता है और मनुष्य भी। पर मनुष्य रसबोध के द्वारा विषयभोगों का आनन्द और भी अच्छी तरह लेता है। तुम तो नीरस ही रह गये जी। तुम्हारा तो आधा जीवन व्यर्थ हो गया।"

"अच्छा , यह बताओ, क्या तुम्हें ज्योतिष-गणित आदि आता है ?" पण्डितजी ने पुनः घमण्ड प्रदर्शित करते हुए पूछा।

"नहीं जी, महाराज!" उस व्यक्ति ने सकुचाकर संक्षिप्त सा उत्तर दिया।

"तब तो तुम्हारा तीन-चौथाई जीवन बेकार हो गया," पण्डितजी गर्व से इठलाते हुए बोले। "बताओ भला, तुम्हें जीवन में क्या सुख मिलता है ? न तम

दर्शन जानो, न साहित्य, न ज्योतिष । देखो, ये सूर्य-चन्द्र-तारे किस प्रकार सौर-जगत् का निर्माण करते हैं, यह न जानो तो जीवन में मजा क्या रहा ?" और यह कहकर उन्होंने ज्योतिष और गणित की बड़ी बड़ी बातें शुरू कर दीं। बेचारा वह आदमी चुपचाप पण्डितजी के मुख से अनर्गल निकलनेवाली ज्ञानराशि का मनमारे पान करता रहा । पण्डितजी अपनी विद्वत्ता बघारे ही जा रहे थे कि इतने में आकाश में मेघ आकर छा गये । देखते ही देखते चारों ओर अँधेरा छा गया और जोरों से ठंडी हवा बहने लगी । माँझी भाँप गया कि थोड़ी ही देर में तूफान आनेवाला है । उसकी नौका में बस ये ही दो यात्री थे । पण्डितजी, जो अपनी हाँके जा रहे थे, और वह दूसरा व्यक्ति, जो चुपचाप सुने जा रहा था । माँझी ने ऐलान करते हुए कहा, "बाबू, आप लोग सावधान हो जाओ । जोरों का तूफान आनेवाला है ।" उसके इतना कहते ही जोरों की आँधी बहने लगी और नाव डगमगाने लगी ।

अब तो पण्डितजी के होश उड़ गये । उनकी बोलती बन्द हो गयी और वे माँझी से विनती करने लगे कि किसी प्रकार वह तूफान से बचाकर नाव को किनारे लगा दे । पर उस तूफान में माँझी का भी नाव पर क्या बस चलता ? तूफान बढ़ने लगा और नाव भी अब-तब करने लगी । उसमें पानी भरने लगा । पण्डितजी और वह दूसरा व्यक्ति दोनों हाथों से पानी उलीचने लगे । पर

जितना वे खाली कर पाते उससे दुगुना जल एक झोंके में भर जाता। माँझी हताश हो गया और अपने प्राण बचाने नदी में कूद पड़ा।

उस दूसरे व्यक्ति ने देखा कि अब तो क्षण भर में ही नाव उलट जायगी तो उसने कपड़े निकाल डाले। नदी में कूदने की तैयारी करके पण्डितजी से पूछा, "अच्छा पण्डितजी, अब मैं आपसे पूछूँ; क्या आपको तैरना आता है?"

"नहीं, भाई; मैं तो तैरना नहीं जानता," अत्यन्त मायूस होकर पण्डितजी ने कहा।

वह व्यक्ति बोला, "तब तो, महाराज! आपका सारा जीवन व्यर्थ गया! आज वेदान्त, षड्दर्शन, साहित्य और ज्योतिष आपकी रक्षा करने वाला नहीं है। मैं भले यह सब नहीं जानता, पर तैरना तो जानता हूँ। अच्छा, मैं चला।" और यह कहकर वह व्यक्ति विक्षुब्ध जलराशि में कूद पड़ा।

थोड़ी ही देर में नाव उलट गयी और पण्डितजी अपने ज्ञान के गर्व के साथ उस जलराशि में समा गये!

श्रीरामकृष्ण कहते हैं–बहुत से शास्त्र जानकर क्या होगा। भवनदी को पार करने की विद्या जानो। शास्त्र पढ़कर, पाण्डित्य के बल पर, संसार-समुद्र को पार नहीं किया जा सकता। उसके लिए तैरना जानो।

●

साधक का प्रस्तुत कर्तव्य

स्वामी यतीश्वरानन्द

"जब तक नींद न आ जाय अथवा मृत्यु न हो, तब तक वेदान्त के विचारों में मन को लगाये रखो।" उच्चतर जीवन के लिए प्रयत्न करते रहो। अपनी इच्छाओं और वासनाओं को मन को चंचल और बहिर्मुखी बनाने का तनिक भी मौका न दो।

मन को सतत ध्येय पर केन्द्रित किये रहना और लक्ष्य की ओर विचार का एक अखण्ड अन्तःप्रवाह बनाये रखना सबसे अधिक श्रमसाध्य है। यह अन्तःप्रवाह सदैव हमारी रक्षा करता है। भले ही हम निर्दोष हास्य में मजा ले लिया करें, पर विचार का यह अन्तःप्रवाह आवश्यक है। हमारे हास्य सुरुचिपूर्ण हों। हम ऐसा हँसी-मजाक न करें जो अशिष्ट हो और जो किसी भी प्रकार से हमारी निम्न प्रवृत्तियों को उभाड़ देता हो। यदि दूसरे लोग ऐसा हँसी-मजाक करते हों, तो हम उसे न सुनें। हमारा व्यवहार पूर्णतः शिष्ट हो और हम अपने सामने दूसरों को गन्दा मजाक न करने दें। ऐसे समय हम अपनी इच्छा-शक्ति को दूसरों पर हावी करना सीखें। यदि ऐसा न कर सकें तो हमीं स्वयं वह स्थान छोड़ दें। अशिष्ट हँसी-मजाक सुनना साधक के लिए अत्यन्त हानिकारक है। उसे पूरी शक्ति के साथ इससे बचाव करना चाहिए।

अपने चतुर्दिक एक ऐसा वातावरण बना लो कि दूसरे लोग तुमसे घनिष्ठ न हो पायें और सामने ऐसी बातें न कर सकें जो गन्दी हों; भले ही वे दूसरी जगह कुछ भी करते हों। इससे हमें शक्ति मिलती है। गन्दे विचार वातावरण को कलुषित बना देते हैं। हमें चाहिये कि हम अच्छे विचारों से अपने को एवं दूसरों को पवित्र बनायें। यह तथ्य कभी आँखों से ओझल न हो। हमें यह उत्तरदायित्व ग्रहण करना है और लोगों को सिखाना है कि जब तक वे हमारी संगत में हैं तब तक विचारों और कार्यों में शिष्ट रहें तथा अपनी मर्जी के अनुसार न चलें। यदि वे हमारी बात नहीं मानते और हमारे अनुसार बरताव के लिए तैयार नहीं होते तो हम उनका साथ छोड़ दें।

अपने गन्दे विचारों से दूसरों का मन कलुषित न करो। यदि कोई व्यक्ति तुम्हारे प्रति वासनासक्त होता है तो उसके लिए भी तुम्हीं उत्तरदायी हो और उसका परिणाम तुम्हें भोगना पड़ेगा। अतएव सदैव सतर्क रहो। यदि पूरी सावधानी न रखो तो तुम्हें भी उस व्यक्ति के ही समान फल भुगतना पड़ेगा-उसके कलुषित विचारों का प्रभाव तुम पर बिना पड़े नहीं रहेगा।

क्या ब्रह्म का अनुभव किया जा सकता है अथवा वह असंवेद्य है? क्या उसकी प्रतीति हमें हो सकती है? जब तक हमें अपने अलग व्यक्तित्व का बोध है और प्रपंच को हम सत्य समझते हैं, तब तक ब्रह्म का अनुभव

नहीं हो सकता। जब तक जगत् की सत्यता का मिथ्या बोध बना हुआ है, तब तक हमारी चेतना का केन्द्र हरदम बदलता रहता है। कभी हम अपने को देह से एकरूप समझते हैं और कहते हैं, "मुझे चोट लगी है। मेरा शरीर यहाँ पर दुख रहा है," तो कभी मन हमारी चेतना का केन्द्र हो जाता है और हम अपने को उससे एकरूप समझते हुए कह उठते हैं, "अमुक व्यक्ति ने मेरे प्रति अशिष्ट व्यवहार किया। मैं बड़ा चिन्तित हूँ। मुझे दुःख है। मुझे इसमें रुचि है।" मनुष्यों और पदार्थों के साथ यह तादात्म्य भ्रममूलक है। 'मैं' का भाव ही इस सबकी जड़ है। यह 'मैं' ही हरदम भिन्न भिन्न रूपों में आता रहता है। जब तक यह अहंभाव-यह 'मैं' बना है, तब तक ब्रह्म की झलक नहीं मिल सकती। परन्तु यहाँ एक बात स्मरणीय है, वह यह कि इस भ्रमात्मक तादात्म्य के बीच भी हमें ऐसो सत्ता का बोध होता है जो सर्वकाल में है, नित्य है। इस गलत 'मैं' के पीछे ऐसा कुछ है जिसमें परिवर्तन नहीं होता। और यह साधक के लिए है कि वह इस अपरिवर्तनशील सत्ता को जान ले। हर व्यक्ति चिरकाल तक जीवित रहना चाहता है। यहाँ तक कि जो लोग आत्मघात कर लेते हैं वे भी वास्तव में जीवन से छुटकारा नहीं पाना चाहते, बल्कि वे जीवन की दुश्चिन्ताओं और झंझटों से मुक्त होना चाहते हैं। वे असल में सुखपूर्ण जीवन की कामना करते हैं-जीवनशून्यता की नहीं। हम शाश्वत काल तक

सुखपूर्वक बने रहना चाहते हैं। कोई पत्थर या काठ के समान नित्य जीवन की कामना नहीं करता, बल्कि बौद्धिक रूप से सजग रहकर शाश्वत जीवन का भोग करना चाहता है। अतः तात्पर्य यह है कि कोई भी व्यक्ति दुःख और कष्टों से भरे जीवन को काम्य नहीं मानता। तथापि यह भी सत्य है कि जीवन के सुखोपभोगों की अतिशय लालसा मनुष्य को आत्मघात करा देती है। हर व्यक्ति में शान्ति, आनन्द और मुक्ति की चाह हरदम बनी हुई है। हममें से कोई भी दुश्चिन्ताओं और जिम्मेदारियों से पीड़ित नहीं होना चाहता।

सत्यद्रष्टा ऋषि कहते हैं कि सत्, चित् और आनन्द आत्मा की उपाधियाँ नहीं हैं बल्कि उसका स्वभाव हैं। हमारा यथार्थ स्वरूप सत्-चित्-आनन्द ही है। जब हम बाहर संसार की ओर देखते हैं तो वहाँ भी सभी घटनाओं के पीछे यह सत्-चित्-आनन्द ही रमा है। संसार की हर चीज, चाहे चेतन हो या जड़, जीवित हो या निर्जीव, अस्तित्ववान् और बोध का विषय बनकर आती है। हर व्यक्ति और पदार्थ में अपने आपको हमारी चेतना पर प्रभावी बनाने की क्षमता होती है— उसमें एक प्रकार का प्रकाश होता है जो जड़ और चेतन को प्रकाशित करता है। जड़ और चेतन कोई दो अलग अलग श्रेणियाँ नहीं हैं; उनका अन्तर केवल तरतमता का है। अतः हम भीतर के संसार में और बाहर के संसार में भी इस सर्वव्यापी चेतना को अनुस्यूत पाते हैं.

हमें सत्य की एक झलक मिलती है ।

संसार के सभी पदार्थ, न्यूनाधिक मात्रा में, मनुष्य के अभावों की पूर्ति करते हैं । हम सभी अपने मन की सन्तुष्टि के लिए बाहर के विषयभोगों की ओर दौड़ा करते हैं, या यों कहिए कि किसी विशेष इन्द्रिय-सुख की खोज में हम संसार की चीजों के पीछे भटका करते हैं । इन्द्रिय के विषय हमारा मन इसलिए अपनी ओर खींचते हैं कि हम समझते हैं उनसे हमें सुख मिलेगा । यही कारण है कि हम उन विषयों की ओर लुब्ध होते हैं, इसलिए नहीं कि उनमें अपने आपमें अन्य कोई विशेषता हो । अतः इस प्रकार हम देखते हैं कि केवल अपने आप में नहीं बल्कि बाहर की जड़ या चेतन सभी वस्तुओं में हमें सत्-चित्-आनन्द की झलक दिखायी देती है । जो सत्य हममें है और बाहर की सभी वस्तुओं में है, उसका मुखड़ा नाम और रूप ने ढक रखा है, परन्तु सभी नाम और रूप के पीछे हम इस सत्य की महिमा को ही अस्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित देखते हैं । हमारे अवचेतन मन में सदैव इस यथार्थ सत्ता का बोध उठा करता है । भले वह अत्यन्त अस्पष्ट और धुँधला हो, तथापि वह है अवश्य ।

समस्त साधना का सार यह है कि यदि हम सचमुच सत्य का साक्षात्कार करना चाहते हैं तो इस अस्पष्ट बोध को स्पष्ट बना लिया जाय । हम पहले स्वयं को ही खोज का विषय बनायें और यह जानने की चेष्टा करें

कि हमारे अहंभाव के पीछे क्या अवस्थित है ।

यह सम्भव है कि भौतिक जगत् में व्यवहार करते हुए भी हम अतीन्द्रिय सत्ता में अपनी चेतना का केन्द्र बना लें । पर यह तब तक सम्भव नहीं जब तक शरीर और मन के साथ हमारा भ्रमात्मक तादात्म्य बना हुआ है ।

हम बहुधा उपाधियों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं । हम कहते हैं और सोचते हैं कि 'हम मोटे हैं, हम दुबले हैं, हम चतुर हैं, हम निर्धन हैं, हम धनी हैं, हम बैठते हैं, हम चलते हैं, हम अन्धे हैं, बहरे हैं, मूक हैं, हम पुरुष हैं, हम स्त्री हैं,' आदि आदि । अथवा हम अपने मन रूपी झील में उठने वाली किसी वृत्ति के साथ एकरूप हो जाते हैं । यह गलत है । यहाँ हम एक बात सबमें समान रूप से विद्यमान देखते हैं और वह है 'मैं-मैं' । यह 'मैं' है क्या ? बिना असीम के विचार के सीमित का विचार हो ही नहीं सकता । एक को ग्रहण करने से दूसरे का भी ग्रहण स्वयमेव हो जाता है । पर असीम, शुद्ध बोधस्वरूप आत्मा को किसी प्रकार बाँधा नहीं जा सकता । हाँ, उसकी अनुभूति अवश्य हो सकती है ।

"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्"—यह आत्मा जिसका वरण करता है और जिसके सामने अपने को प्रकट करता है, वही इसको पा सकता है । अतः तुम्हीं अपना वरण करने वाले हो, क्योंकि

यह आत्मा, यह सत्य तुमसे भिन्न नहीं है। यदि तुम सच-मुच यह निश्चय कर लो कि तुम सत्य को जान लोगे और निश्चय के अनुसार प्रयत्न में लग जाओ, तो तुम सत्यस्वरूप ही हो जाओगे। आध्यात्मिक अनुभूति का अर्थ है आत्मानुभूति। यह अनुभूति तभी होती है जब हम अपनी निम्न प्रवृत्तियों के ऊपर उठ जाते हैं। अत-एव पवित्र और अनासक्त बनो। स्वामी विवेकानन्द की प्रार्थना थी, "मुझे विवेक दो, वैराग्य दो, भक्ति दो, ज्ञान दो।"

साहसी बनो। सत्य का सामना करो। निर्मम होकर आत्मविश्लेषण करो। सर्वप्रथम आत्मा को खोजो और उसे पा लो। आज तुमने आत्मा को लगभग खो दिया है। जब तुम उसे फिर से पा लोगे तब इस उच्चतर अनुभूति की बात आयेगी, अन्यथा नहीं।

जब हमारी धारणा होती है कि हम न तो पुरुष हैं, न स्त्री, हम तो केवल आध्यात्मिक तत्त्व हैं, तब और केवल तभी, हमारा आध्यात्मिक जीवन प्रारम्भ होता है। अपने समस्त कार्यों और विचारों के पीछे इसी धारणा की बुनियाद को मजबूत करो।

भले ही आत्मविश्लेषण का पथ कठिन प्रतीत होता हो, पर सभी पथों में वही सबसे सीधा रास्ता है। भक्त को भी कुछ अंश तक आत्म-विश्लेषण का अभ्यास करना पड़ता है। इतना अवश्य है कि भक्त की साधना भक्ति के कारण मधुर हो जाती है।

यह आवश्यक है कि हमें मुक्ति की ठीक ठीक धारणा हो। क्या हम इन्द्रियों से मुक्ति चाहते हैं, या इन्द्रियों की मुक्ति चाहते हैं ? इन दोनों में मुक्ति की सही धारणा कौन सी है ? क्या इन्द्रियों को छूट दे देना मुक्ति है ? विषयों का दास बनकर उनके पीछे इन्द्रियों का दौड़ना क्या मुक्ति हो सकती है ? इस प्रकार स्वयं अपने पैरों पर कुल्हाड़ी चलाना क्या मुक्ति है ? अथवा इच्छाओं को नियंत्रित करके तथा वासनाओं को वश में करके इन्द्रियों और उनके वेगों से मुक्ति पा लेना मुक्ति है ? इन्द्रियों से मुक्त होना ही 'आत्मा की मुक्ति' कहलाता है। इन्द्रियों की मुक्ति का दूसरा नाम है स्वेच्छाचारिता, और यह कोई मुक्ति नहीं है। असल प्रश्न तो यह है कि क्या हम मुक्ति चाहते हैं ?

साधना की बात तब आती है जब हम कार्य करने में थोड़ा बहुत स्वतंत्र होते हैं। तभी वास्तव में आध्यात्मिक जीवन की शुरुआत होती है। जो आत्मा को भूल जाते हैं, अपनी वास्तविक सत्ता को विस्मृत कर देते हैं, वे मानो आत्मघाती हैं, क्योंकि वे अपने इस व्यवहार से आत्मा को खो बैठते हैं। उपनिषद् में ऐसे ही लोगों के लिए कहा है—'ते च आत्महनो जनाः'। जब तक हमारे मन में दासता की गन्ध बनी हुई है, जब तक हम गुलाम के समान इन्द्रियों के द्वारा परिचालित होते हैं, तब तक हम आगे नहीं बढ़ सकते। इन्द्रिय-

संयम और शुचिता का जीवन ही हमें मुक्ति के पथ पर आगे बढ़ाता है। संसारी व्यक्ति चाहे जो कहे, पर आध्यात्मिक प्रगति का अन्य कोई उपाय नहीं है।

कुछ लोग आत्मा के अस्तित्व पर सन्देह कर सकते हैं और करते हैं। शंकराचार्य ऐसे लोगों के लिए कहते हैं, "यदि तुम अपने अस्तित्व पर भी सन्देह करो, तो भी जो सन्देह कर रहा है उसका अस्तित्व तो मानना ही पड़ेगा। यह सन्देह करने वाला तुम्हारी आत्मा से भिन्न नहीं है।" डेकार्ट ने कहा था "Cogito, ergo sum" अर्थात् 'मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ।' शंकराचार्य कहते हैं, "चूँकि मैं हूँ, इसलिए मेरे लिए सोचना सम्भव होता है।"

यदि वेदान्त चाहते हो, तो वह यह रहा। पर तुम्हें साहसी बनना पड़ेगा। सत्य का सामना करो। आध्यात्मिक जीवन में, भौतिक अथवा मानसिक रूप से, रोमांस की कोई गुंजाइश नहीं है। वह तो एक कठोर जीवन है, संघर्ष और श्रम का जीवन है। केवल बातों से आध्यात्मिक जीवन नहीं बना करता। संसार में ऐसे लोगों की अधिकता है जिन्हें संसार का अनुभव है। यहाँ ऐसे भी लोग हैं जिन्हें आत्मा का अनुभव है। पर जिन्हें केवल सांसारिक अनुभव है, वे क्या इसी अनुभव के बल पर आध्यात्मिक जीवन और उसकी अनुभूति के सम्बन्ध में बोल सकते हैं ? वे तो इन्द्रिय-विषयों के कीड़े हैं और सिर से पैर तक इन्द्रियों के जीवन में डूबे हुए हैं।

वेदान्त की अनुभूति के लिए विश्वास का सम्बल लाओ। इसे अन्धविश्वास कहकर उड़ाने की कोशिश न करो। श्रीरामकृष्ण ने कहा था, "अन्धविश्वास ? विश्वास और अन्धा विश्वास क्या ! या तो कहो विश्वास, या फिर अनुभूति।" अतएव, प्रबल इच्छाशक्ति जगाओ। वैराग्य के अनल को विवेक के अनिल से प्रदीप्त रखो। प्रबल अनुराग के बिना कुछ भी प्राप्त नहीं होता। हममें स्वतंत्र कर्तृत्व है और हम मुक्ति के लिए अपने आपको तैयार कर सकते हैं। जब मन पवित्र होता है और इन्द्रियाँ शान्त, तब हृदय में सत्य की अनुभूति होती है।

इच्छाशक्ति को दुर्बल न होने दो। उसके दुर्बल होते ही शत्रु चारों ओर से हमें घेर लेते हैं और अपनी अपनी ओर खींचते हैं। यदि हम पर्याप्त सावधान न रहे, तो पराजित होने का भय बना रहता है। अतः आओ, हम निश्चय करें कि वासनाएँ शान्त हों और इच्छाएँ प्रशमित हों।

•

उत्तम साध्य के लिए उत्तम साधन भी होना चाहिए। सुगन्ध की प्राप्ति चन्दनादि सुगन्धित द्रव्यों से ही सम्भव है। मिट्टी का तेल जलाकर हवन की सुगन्ध नहीं पैदा की जा सकती।

—अज्ञात

स्वामी त्रिगुणातीतानन्द

डा० नरेन्द्रदेव वर्मा

सन् १८८४ के दिसम्बर मास की २७ तारीख को कलकत्ते के मेट्रोपोलिटन स्कूल के प्रधानाध्यापक श्री महेन्द्रनाथ गुप्त अपने एक विद्यार्थी के साथ श्रीरामकृष्ण देव के दर्शन के लिये दक्षिणेश्वर पहुँचे। विद्यार्थी का नाम शारदाप्रसन्न मित्र था। वह उन्हीं के स्कूल का विद्यार्थी था तथा पढ़ने-लिखने में बड़ा तेज था। सभी लोगों को यह आशा थी कि शारदाप्रसन्न एण्ट्रेंस का परीक्षा में सर्वप्रथम आयेगा पर दुर्भाग्य से वह द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ। इस घटना से वह बहुत दुखी हो गया था। श्री महेन्द्रनाथ गुप्त अपने स्कूल के होनहार विद्यार्थियों को लेकर श्रीरामकृष्ण देव के पास आया करते थे और उनके इन्हीं विद्यार्थियों ने आगे चलकर युगावतार के सार्वभौमिक सन्देश का प्रचार करने के लिये संसार त्याग कर संन्यास ग्रहण किया था। उन्होंने जब शारदाप्रसन्न को दुखी देखा तो उन्हें बड़ा कष्ट हुआ क्योंकि वे इस बालक की मृदुलता से अभिभूत थे तथा उसकी कुशाग्र बुद्धि के बड़े कायल थे। उन्होंने सोचा कि सम्भवत: दक्षिणेश्वर के सन्त का दर्शन करने से शारदाप्रसन्न का दु:ख कम हो जायेगा। इसलिये वे उसे लेकर श्रीरामकृष्ण देव के समीप उपस्थित हुए।

ऐसे तो बालक शारदाप्रसन्न ने परीक्षा की पूरी तैयारी कर ली थी पर परीक्षा के दूसरे ही दिन उसकी सोने की घड़ी गुम गई। इससे उसका मन अशान्त हो उठा और वह पूरे मनोयोग से अपने अन्य परचों को नहीं लिख सका। फलतः उसका परीक्षाफल भी अपेक्षित नहीं निकला। शारदाप्रसन्न इस घटना से बहुत दुखी हो गया था पर श्रीरामकृष्ण देव के दर्शन से उसकी सारी व्यथा जाती रही। उनके लोकोत्तर प्रेम ने उसे अपना दास बना लिया। बालक शारदाप्रसन्न जब घर लौटा तब उसके हृदय में विषाद के स्थान पर आनन्द का सागर उमड़ रहा था। उसका मन दुश्चिन्ताओं से रहित होकर शान्ति से भर उठा था। कालान्तर में यही दुखी बालक स्वामी त्रिगुणातीतानन्द के नाम से जगद्-विख्यात हुआ जिन्होंने अमेरिका में पहले हिन्दू मन्दिर की स्थापना की थी और भौतिकता की व्याधि से ग्रस्त अमरीकी जनता को वेदान्त की पुण्य-सलिला में अवगाहन कराया था।

शारदाप्रसन्न मित्र का जन्म ३० जनवरी सन् १८६५ को चौबीस परगने के एक सम्पन्न परिवार में हुआ था। उनके माता-पिता का विश्वास था कि जगदम्बा के अनुग्रह से ही उन्हें पुत्र की प्राप्ति हुई है इसलिए उन्होंने अपने पुत्र का नाम शारदाप्रसन्न रखा। बालक शारदाप्रसन्न को प्रारम्भिक पढ़ाई कलकत्ता में हुई और चौदह वर्ष की अवस्था में उसे मेट्रोपोलिटन

स्कूल की चौथी कक्षा में भरती किया गया।

बाल्यकाल से ही शारदाप्रसन्न के धार्मिक संस्कार जाग्रत् हो गये थे। उनके पिता ईश्वर के बड़े भक्त थे तथा उनका अधिकांश समय पूजा-पाठ में बीता करता था। घर पर ही शारदाप्रसन्न को धार्मिक ग्रन्थों को पढ़ना सिखाया गया। जिस आयु में बालक खेल-कूद में भूले रहते हैं उस आयु में शारदाप्रसन्न धार्मिक पुस्तकों को पढ़ा करते थे। छोटी उम्र में ही उन्हें शताधिक संस्कृत के श्लोक कण्ठस्थ हो गये थे। जब वे श्रीरामकृष्ण देव के पास गये तब दक्षिणेश्वर के उस विलक्षण पुजारी ने शारदाप्रसन्न की अन्तरात्मा में झाँक कर देखा और उसकी गहनगर्भी आध्यात्मिकता को जगा दिया। शारदाप्रसन्न श्रीरामकृष्ण देव के अहैतुकी प्रेम से आकर्षित होकर बार-बार दक्षिणेश्वर जाने लगे और श्रीरामकृष्ण देव ने भी अपने युग-कार्य के लिये अपने शिष्य के जीवन को गढ़ना आरम्भ कर दिया।

शारदाप्रसन्न के परवर्ती जीवन में हम जिस महान् सेवा-भाव का दर्शन करते हैं उसका बीजारोपण इन्हीं दिनों दक्षिणेश्वर के सन्त ने कर दिया था। एक बार शारदाप्रसन्न दोपहर को दक्षिणेश्वर पहुँचे। उन्हें देखकर श्रीरामकृष्ण देव ने जल लाकर पैरों को धोने के लिये कहा। यह शारदाप्रसन्न को बड़ा अटपटा सा लगा। उनका पालन-पोषण सम्पन्न घराने में हुआ था। अतः उनके मन में कतिपय आभिजात्य-संस्कार जम गये थे

और वे सोचते थे कि कुछ कार्य ऐसे होते हैं जिन्हें नौकर ही करता है। उस समय श्रीरामकृष्ण देव के कमरे में अन्य व्यक्ति भी थे। इसलिये शारदाप्रसन्न ने सोचा कि सम्भवतः श्रीरामकृष्ण देव ने किसी अन्य व्यक्ति को जल लाकर उनके पैरों को धोने के लिये कहा है, पर जब उन्होंने दुबारा शारदाप्रसन्न को ही जल लाने के लिये कहा तब उनकी यह मिथ्या भावना नष्ट हो गयी। उन्होंने अपने गुरुदेव की आज्ञा का पालन किया और इसप्रकार उनसे सेवा-भाव का पाठ सीखा।

स्कूल की पढ़ाई समाप्त करने के उपरान्त वे मेट्रोपोलिटन कालेज में पढ़ने लगे। पर श्रीरामकृष्ण देव के पास अधिकाधिक जाते रहने के कारण उन्हें धनोपार्जन की विद्या से अरुचि हो गई। शारदाप्रसन्न के परिजन यह नहीं चाहते थे कि उनका पुत्र पढ़ाई छोड़कर दक्षिणेश्वर के पागल पुजारी से मिलता रहे। पर शारदाप्रसन्न को उनकी इच्छा की चिन्ता नहीं थी और वे समय मिलते ही श्रीरामकृष्ण के पास चले जाया करते थे। शारदाप्रसन्न की वीतरागिता को देखकर उनके माता-पिता बड़े चिन्तित हो उठे। उन्होंने सोचा कि सम्भवतः विवाह कर देने पर उनके पुत्र का मन संसार में लग सकता है। तदनुरूप उन्होंने शारदाप्रसन्न के विवाह की तैयारियाँ शुरू कर दीं। पर जैसे ही शारदाप्रसन्न को इस बात का पता चला वैसे ही वे घर से भाग निकले।

सबसे पहले वे श्रीरामकृष्ण देव के पास गये और

घर की बातों को छिपाकर उन्होंने बताया कि वे पुरी जा रहे हैं। फिर वे पैदल ही पुरी की ओर चल पड़े। इस यात्रा में उन्हें बड़े अद्भुत अनुभव हुए। वे दो दिनों तक निराहार चलते रहे। उन्होंने सोचा कि आगे आने वाले गाँव में रुककर थोड़ा विश्राम कर लेंगे पर वे एक घने जंगल में आ गये। रात होने पर उन्होंने एक पेड़ पर चढ़कर सोने का विचार किया। कुछ देर बाद उन्होंने सुना कि कोई व्यक्ति उन्हें नीचे उतरने के लिये कह रहा है। वे नीचे उतरे। वह व्यक्ति उनके लिये भोजन लाया था पर शारदाप्रसन्न उन्हें नहीं पहचानते थे। खा-पीकर वे पुनः पेड़ पर चढ़ गये। सबेरा होने पर उन्होंने उस व्यक्ति की खोज की पर चारों ओर घना जंगल था और वहाँ किसी भी आदमी का कोई चिह्न नहीं था।

शारदाप्रसन्न पुरी में अधिक दिनों तक नहीं रह सके। उनके घरवालों ने उन्हें ढूँढ निकाला और वे कलकत्ता चले आए। उस समय उनकी परीक्षा को केवल एक महीना बाकी था। इतने कम समय में ही पढ़ाई करके वे परीक्षा में सम्मिलित हुए और विशेष योग्यता के साथ उत्तीर्ण हुए। उनके पिता अब अपने पुत्र पर कड़ी निगरानी रखने लगे। फलतः जब श्रीराम-कृष्ण देव गले की व्याधि से पीड़ित होकर काशीपुर में निवास कर रहे थे तब शारदाप्रसन्न उनकी अधिक सेवा नहीं कर पाये। उनके हृदय में वैराग्य की ज्वाला

धधक रही थी और वे संसार त्यागकर संन्यासी बनना चाहते थे पर उन्होंने सोचा कि इससे उनके माता-पिता को बड़ा दुःख पहुँचेगा। इस विचार से वे उपयुक्त समय की प्रतीक्षा करने लगे।

इधर शारदाप्रसन्न के मन को संसार की ओर खींचने के लिये उनके परिजन अनेकानेक प्रयत्न कर रहे थे। उनके बड़े भाई ने इस हेतु एक बड़ा अनुष्ठान और हवन कराया। पर अनुष्ठान के अन्त में पुरोहितों ने यह घोषणा कर दी कि शारदाप्रसन्न के मन को संसार की ओर नहीं खींचा जा सकता और उसका संन्यासी बनना निश्चित है। जब शारदाप्रसन्न को इस अनुष्ठान की सूचना मिली थी तब वे बड़े क्षुब्ध हुए थे और घर छोड़कर श्रीरामकृष्ण देव के अन्य अन्तरंग शिष्यों के साथ वराहनगर मठ में रहने लगे थे। कुछ दिनों के बाद सभी गुरुभाइयों ने समवेत रूप से संन्यास दीक्षा ले ली और शारदाप्रसन्न स्वामी त्रिगुणातीतानन्द बन गये।

स्वामी त्रिगुणातीतानन्द मुक्त संन्यासी के समान पृथ्वी में ईश्वर पर अवलम्बित रहकर भ्रमण करना अधिक पसन्द करते थे। सन् १८९१ में उन्होंने वृन्दावन, मथुरा, जयपुर, अजमेर और काठियावाड़ की यात्रा की थी और पोरबन्दर में वे आकस्मिक रूप से स्वामी विवेकानन्द से मिले थे जो उन दिनों अज्ञात रूप से परिव्रजन कर रहे थे। सन् १८९५ में उन्होंने पुनः कैलास और मानसरोवर की कठिन यात्रा की थी। जून

और जुलाई के दिनों में बर्फ पिघलने लगी थी और भारी हिमशिलाएँ पथ पर गिर रही थीं किन्तु स्वामी त्रिगुणातीतानन्द ईश्वर के भरोसे अपनी यात्रा पर चलते रहे। स्वामी विवेकानन्द के अनुरोध पर उन्होंने अपना भ्रमण समाप्त किया और वराहनगर मठ में चले आये।

यात्रा के उपरान्त उनका सारा समय अध्ययन और आध्यात्मिक साधनाओं में व्यतीत होने लगा। कठिन परिश्रम से उन्हें नासूर हो गया और चिकित्सकों ने उन्हें आपरेशन की सलाह दी। स्वामी त्रिगुणातीतानन्द बिना क्लोरोफार्म के शल्य-क्रिया के लिये राजी हो गए और लगभग आध घण्टे तक के गम्भीर आपरेशन में उनके मुख पर पीड़ा का तनिक भी चिह्न दिखाई नहीं पड़ा। उनमें अपने मन को शरीर से अलग कर लेने की अद्भुत क्षमता थी।

स्वस्थ होते ही वे पुनः अध्ययन और साधना में लग गये। इस बीच वे कलकत्ते के कुछ स्थानों में नियमित रूप से धार्मिक प्रवचन भी करने लगे थे। पर जब सन् १८९७ में दीनाजपुर जिले में भयंकर अकाल पड़ा तब स्वामी त्रिगुणातीतानन्द ने अकाल-पीड़ितों की सहायता के कार्य का संगठन किया। यहाँ उनकी सेवा-भावना का अपूर्व प्रकाशन हुआ था। वे स्वयं तो भिक्षान्न पर निर्वाह करते किन्तु दिन-रात भूखे लोगों को अन्न प्रदान करने में लगे रहते थे। कभी-कभी तो उन्होंने अनेक दिनों तक निराहार रहकर सेवा-कार्य का संचालन

किया था।

स्वामी त्रिगुणातीतान्द का जिसप्रकार अपने मन पर अधिकार था उसी प्रकार उनमें क्षुधा-नियंत्रण की भी अद्भुत क्षमता थी। वे अनेक दिनों तक फल का एक टुकड़ा खाकर रह जाते थे और कभी-कभी वे चार व्यक्तियों का भोजन एक साथ ग्रहण कर लोगों को आश्चर्यचकित कर देते थे। एक बार यात्रा करते समय वे किसी भोजनालय में भोजन करने गये। भोजन परोसने वाला परोसते-परोसते थक गया पर उनकी क्षुधा शान्त नहीं हुई। अन्त में जब भोजनालय के मालिक ने आकर उनसे निवेदन किया कि वह उन्हें और भोजन देने में असमर्थ है, तब वे उठे। इस घटना को वे अपने गुरुभाइयों को बड़े आनन्द से बताया करते थे।

धीरे-धीरे रामकृष्ण मठ के कार्यों का विस्तार होता चला और मठ आलमबाजार से बेलुड़ ग्राम में लाया गया। एक दिन स्वामी विवेकानन्द जी ने श्रीरामकृष्ण देव के संदेश और वेदान्त के शाश्वत सत्य का प्रचार करने के लिये बँगला भाषा में एक पत्रिका निकालने की इच्छा प्रकट की। इसके कुछ ही दिनों बाद एक प्रेस खरीदा गया और स्वामी त्रिगुणातीतानन्द को पत्रिका के प्रकाशन और सम्पादन का भार सौंप दिया गया। स्वामी विवेकानन्द जी ने इस पत्रिका को 'उद्बोधन' नाम प्रदान किया था। स्वामी त्रिगुणातीतानन्द पूरी निष्ठा से इस कार्य में लग गये और अपने भीष्म प्रयत्नों

से शीघ्र ही 'उद्‌बोधन' को व्यवस्थित कर दिया। इस बीच उन्हें खाने और सोने की सुधि नहीं रहती थी। वे रात-दिन पत्रिका की व्यवस्था और सम्पादन में लगे रहते थे।

'उद्‌बोधन' के व्यवस्थित होने पर स्वामी विवेकानन्द जी ने उन्हें वेदान्त-प्रचार के लिये सनफ्रांसिसको जाने के लिये कहा। उस समय वहाँ स्वामी तुरीयानन्द वेदान्त और श्रीरामकृष्ण देव के संदेश का प्रचार कर रहे थे और अब वे भारत आना चाहते थे। स्वामी त्रिगुणातीतानन्द ने अपने गुरुभाई का आदेश शिरोधार्य कर लिया। पर कुछ ही दिनों बाद ४ जुलाई सन् १९०२ को स्वामी विवेकानन्द जी महासमाधि में लीन हो गये और शोक की लहर चारों ओर व्याप्त हो गयी। इससे त्रिगुणातीतानन्दजी का अमेरिका जाना रुक गया। पर अमेरिका में वेदान्त के जिज्ञासु विद्यार्थी उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। फलतः वे २ जनवरी १९०३ को सनफ्रांसिसको के लिये रवाना हुए।

अमेरिका में वेदान्त के विद्यार्थियों ने उनका स्वागत किया। कुछ दिनों तक वे सनफ्रांसिसको की वेदान्त सोसायटी के अध्यक्ष एम. एच. लोगन के अतिथि रहे और बाद में वे श्री सी. एफ. पीटरसन के घर चले आये जहाँ उन्हें अपने कार्य का प्रारम्भ करना था। उनके आगमन की सूचना फैलने लगी और वेदान्त के नये और पुराने विद्यार्थी उनके पास आने लगे। उन्होंने नियमित रूप से

धार्मिक प्रवचन देना प्रारम्भ कर दिया। कुछ ही दिनों के बाद श्रोताओं की संख्या इतनी अधिक हो गयी कि पीटरसन महोदय का भवन छोटा पड़ने लगा और एक नये भवन की व्यवस्था की गयी। सन् १९०३ के मार्च महीने में स्वामी त्रिगुणातीतानन्द इस नये भवन में आये और अन्य नियमित प्रवचनों के अतिरिक्त सोमवार और मंगलवार को वेदान्त सोसायटी के सदस्यों के लिये विशेष आध्यात्मिक प्रवचन करने लगे।

सन् १९०४ तक उन्होंने अपने प्रचार-कार्य को इतना विस्तृत बना दिया कि वेदान्त सोसायटी को स्वयं के भवन की आवश्यकता हुई। सन् १९०५ के अगस्त में अनुष्ठानादि के उपरान्त 'हिन्दू टेम्पल' का शिलान्यास किया गया और उनके कुशल निर्देशन में ७ जनवरी १९०६ को इसका निर्माणकार्य समाप्त हुआ। यह 'हिन्दू टेम्पल' पश्चिमी जगत् का पहला हिन्दू मन्दिर है जो स्वामी त्रिगुणातीतानन्द की उद्दाम कर्मठता और निःस्वार्थ वृत्ति का प्रतीक वनकर खड़ा हुआ है। इसके भविष्य के सम्बन्ध में उन्होंने एक दिन कहा था, "यदि इस मन्दिर के निर्माण में लेशमात्र भी स्वार्थपरता होगी तो यह गिर जायेगा, पर यदि यह ठाकुर का कार्य है तो यह बना रहेगा।" १५ जनवरी को इस मन्दिर की प्रतिष्ठा और पूजा हुई।

स्वामी त्रिगुणातीतानन्द के साथ कुछ वेदान्त के विद्यार्थी भी ब्रह्मचारी-जीवन बिताने की इच्छा से 'हिन्दू

टेम्पल' में चले आये। ये विद्यार्थी नौकरी करके आश्रम का व्यय-भार उठाते थे और त्रिगुणातीतानन्दजी के निर्देशन में अनुशासित जीवन व्यतीत करते थे। स्वामी त्रिगुणातीतानन्द ने उन्हें निःस्वार्थ कार्य का महत्व समझा दिया था और कहा था कि मन्दिर के प्रत्येक कार्य से उनके मन की शुद्धि होगी और उनका आध्यात्मिक उन्नयन होगा।

त्रिगुणातीतानन्दजी भक्तिपूर्ण गायन को आध्यात्मिक उन्नयन का प्रभावी साधन मानते थे। वे ब्राह्ममुहूर्त में आश्रमवासियों के साथ मन्दिर की छत पर चढ़कर भजन गाया करते थे और कभी-कभी मन्दिर से आधा मील दूर पर स्थित सनफ्रांसिसको की खाड़ी में पहुँचकर अपने दिव्य गायन से निःस्तब्ध वातावरण को पुनीत बना देते थे। आहारशुद्धि का आध्यात्मिक प्रगति में बड़ा महत्व होता है इसलिये अन्यान्य कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी वे स्वयं समस्त आश्रमवासियों के लिए भोजन बनाते थे, ताकि अध्यात्म के पथिकों को सात्त्विक भोजन मिल सके। उनका स्वयं का जीवन आदर्शरूप और अनुशासित था। उनकी उपस्थिति में विद्यार्थियों की समस्त शंकाओं एवं संदेहों का समाधान स्वयमेव हो जाता था।

कुछ अमरीकी महिलाएँ भी उनके उपदेशों के अनुरूप ब्रह्मचारिणी का जीवन बिताना चाहती थीं। इस प्रयोजन से सनफ्रांसिसको के एक अन्य हिस्से में महिलाओं का मठ प्रारम्भ किया गया। मठ में रहने-

वाली ब्रह्मचारिणियों में अधिक उत्साह और कर्मठता थी। वे स्वामी त्रिगुणातीतानन्द के निर्देशों के अनुरूप अनुशासित एवं तपःपूर्ण जीवन बिताया करती थीं। यद्यपि मठ का प्रत्येक कार्य उन्हीं लोगों को करना पड़ता था पर त्रिगुणातीतानन्द जी की कृपा से उन्होंने कर्म के दैवी स्वरूप के दर्शन किये थे। उन्हें विश्वास था कि कर्म के द्वारा उन्हें जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति हो जायेगी। स्वामी त्रिगुणातीतानन्द जी की इच्छा थी कि यह मठ अमरीकी नारियों के नवजागरण का केन्द्र वन जाये।

सन् १९०९ में वेदान्त के अधिकाधिक प्रचार के लिये स्वामीजी ने 'व्हाइस ऑफ फ्रीडम' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इससे जो लोग स्वामीजी के सम्पर्क में नहीं आये थे उन्हें भी वेदान्त की गरिमा से परिचित होने का अवसर मिला। लगभग सात वर्ष तक यह पत्रिका चलती रही। स्वामी तुरीयानन्दजी ने सैन एण्टानी वेली में 'शान्ति आश्रम' की स्थापना की थी जहाँ जिज्ञासु अमरीकी विद्यार्थी भारतीय संन्यासियों के समान तपस्यापूर्ण जीवन व्यतीत कर सकें। स्वामी त्रिगुणातीतानन्द प्रति वर्ष आश्रमवासियों के साथ वहाँ जाया करते थे। शान्ति आश्रम हिमालय के समान श्वेतधवल पर्वतशिखरों की पृष्ठभूमि में स्थित था। वहाँ पहुँचते ही एक अलौकिक पवित्रता की अनुभूति होने लगती थी। स्वामी त्रिगुणातीतानन्द अपने

शिष्यों के साथ ब्राह्ममुहूर्त में उठ जाया करते और दस बजे रात तक आध्यात्मिक चर्चा, शास्त्रपाठ और साधनाएँ किया करते। उन्होंने भोजन को भी आध्यात्मिक साधना का एक अंग बना दिया था।

यहाँ सप्ताह में एक दिन सभी ब्रह्मचारी प्रातःकाल से ही अपने कमरों में चले जाते और २४ घण्टे तक खाने-पीने और सोने की चिन्ता छोड़कर ध्यान और तपश्चर्या में लगे रहते। इस अवधि में अनेक व्यक्ति आध्यात्मिक अनुभवों से लाभान्वित हुए और उनमें जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने की व्याकुलता का संचार हुआ। स्वामी त्रिगुणातीतानन्द अपने शिष्यों के मन को सहज ही पढ़ लेते थे और शिष्यगण भी इस तथ्य से अवगत थे। इसलिये वे लोग आत्मशोधन और आत्मपरिष्कार में निरन्तर संलग्न रहते थे। जब पूर्णिमा की रात आती तो आकाश के नीचे धूनी जला दी जाती। त्रिगुणातीतानन्दजी अपने शिष्यों के साथ उसके चारों ओर बैठ जाते और पूरी रात ध्यान में व्यतीत कर दी जाती।

स्वामी त्रिगुणातीतानन्द जी का जीवन महान् आध्यात्मिकता का जीवन था। उनके सम्पर्क में जो भी आया वह आमूल परिवर्तित हो गया। 'हिन्दू टेम्पल' के विद्यार्थी उनके साथ बिताये गये समय को अपने जीवन की मधुरतम स्मृतियों के रूप में देखते थे। उन्होंने न जाने कितने हृदयों को आध्यात्मिकता की वारि से सिंचित किया था, न जाने कितने हृदयों में वैराग्य की

अग्नि प्रज्वलित की थी। वे महान् कर्मठ और विलक्षण तितिक्षा सम्पन्न थे। तितिक्षा और परिश्रम से उनका शरीर टूटता जा रहा था। उनके अमेरिका-निवास के ८वें वर्ष से ही उनका स्वास्थ्य नष्ट हो चला था और उन्हें वात रोग और वृक्क-प्रकोप हो गया था। यद्यपि वे लगभग पाँच वर्ष तक अनेकानेक शारीरिक व्याधियों से पीड़ित रहे पर उनके किसी शिष्य को इसका भान तक नहीं हो पाया था। वे अपूर्व सेवाभावी थे तथा अपने शरीर को सेवा का माध्यम मानते थे। एक बार उन्होंने अपने शरीर के सम्बन्ध में कहा था, "यह शरीर केवल संकल्प के बल पर टिका हुआ है। जैसे ही मैं संकल्प का त्याग करूँगा वैसे ही यह आप ही आप गिरकर टुकड़े-टुकड़े हो जायेगा।"

सन् १९१४ के दिसम्बर माह में बड़े दिन के तीन दिन बाद वे रविवार की सभा में प्रवचन कर रहे थे। इतने में ही एक जोरों का धमाका हुआ और चारों ओर धुआँ फैल गया। उनके पहले के एक शिष्य ने पागलपन के आवेश में वहाँ एक बम फोड़ दिया था। जब धुआँ छँटा तब पता चला कि बम चलाने वाले की उसी स्थान में मृत्यु हो गयी है। स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी को भी सांघातिक चोटें पहुँचीं। उन्हें तुरन्त अस्पताल ले जाया गया। रास्ते में अपनी प्राणान्तक वेदना को भूलकर वे अपने अभागे शिष्य की सुधि लेते हुए पूछने लगे, "वह बेचारा कहाँ है ?" चिकित्सकों के प्रयास से

यद्यपि बाहरी घाव ठीक हो गये किन्तु बम का विषाक्त प्रभाव धीरे-धीरे फैलता ही गया। उन्हें निरन्तर तीव्र पीड़ा होती रहती पर उनके मुख से वेदना का एक भी शब्द नहीं निकलता था।

९ जनवरी १९१५ को अपने प्रमुख अमरीकी शिष्य से वार्तालाप करते हुए उन्होंने कहा कि कल १० जनवरी को स्वामी विवेकानन्द जी के जन्मदिवस पर वे देहत्याग कर देंगे। दूसरे दिन सबेरे दस बजे उन्होंने अपने शिष्य को कुछ समय के लिए बाहर जाने के लिये कहा। जब शिष्य वापस आया तब उसने देखा कि उनका जीवन-दीप निर्वापित हो गया है, ज्योति ज्योति से मिल गयी है, ईसा पुनः सलीब पर चढ़ गया है और पुत्र पिता के पास लौट गया है।

●

धर्म को प्रत्यक्ष अनुभूति हो सकती है। क्या तुम इसके लिए तैयार हो? क्या तुम यह चाहते हो? यदि हाँ, तो तुम उसे अवश्य प्राप्त कर सकते हो, और तभी तुम यथार्थ धार्मिक होगे। जब तक तुम इसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं कर लेते, तुममें और नास्तिकों में कोई अन्तर नहीं। नास्तिक ईमानदार है; पर मनुष्य जो कहता है कि वह धर्म में विश्वास रखता है, पर कभी उसे प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न नहीं करता, ईमानदार नहीं है।

—स्वामी विवेकानन्द

परमहंस

टी. एल. वासवानी

रामकृष्ण ! यह नाम ही मेरे कानों के लिए संगीत है।

रामकृष्ण ! मेरे लिए यह नाम एक ऐसा प्रतीक है जो समान रूप से भारत और पश्चिम के लिए सन्देशस्वरूप है।

कारण यह है कि भारत भी अधिकाधिक रूप से पश्चिम की शक्तियों के प्रभाव में आता जा रहा है। आज भारत में वहुत से लोगों ने आर्थिक और उद्योग-प्रधान सभ्यता की दृष्टि से सोचना शुरू कर दिया है। उद्योगवाद जीवन के प्रति भौतिकतावादी दृष्टिकोण को जन्म देता है।

पूर्व और पश्चिम दोनों भूभागों में मनुष्य समान रूप स दुःखी है। विश्व भर में इस अवस्था को स्पृहणीय बनाया जा रहा है। आज नवयुवक कहते हैं कि वे ऋषियों के उपदेशों को नहीं मानते। वे हृदय में साम्यवाद को सँजोकर रखते हैं। लेनिनग्राड को अपने धर्मविरोधी संग्रहालय पर गर्व है। भारत के वड़े बड़ नगर गीता और उपनिषदों रूपी मूल्यवान् धरोहर को बिसारकर मार्क्स और लेनिन की बातें करते हैं। पश्चिम की एक महिला ने कहा था, “हम ईश्वर में विश्वास नहीं करते। जीवन में कोई अर्थ नहीं है, उसका कोई प्रयोजन नहीं है।” और

आज की हमारी भारतीय ललनाएँ अधिकाधिक संख्या में उक्त महिला की हाँ में हाँ मिलाती हैं।

जो भी व्यक्ति श्रीरामकृष्ण से मिला, उसे अक्लान्त भाव से उन्होंने यही उपदेश दिया– "ईश्वर से प्रेम करो और इस प्रेम में ही तुम्हें जीवन की पूर्णता मिलेगी!"

और उनमें प्रेम की ऐसी ज्योति जल रही है जिसने अहंकार को नष्ट कर दिया है। अपने अहंकार को निर्वापित कर और शून्य बनकर वे 'अनन्त' में प्रवेश कर जाते हैं। अहंकार को दूर करो तो जो बच रहता है वही आत्मा है।

एक दिन श्रीरामकृष्ण क ते हैं, "ईश्वर को भला कौन जान सकता है? मैं तो उनका प्यार चाहता हूँ।"

ईश्वर को प्यार करके मैं सबको प्यार करना सीखूं। और केवल साधुजनों को ही नहीं बल्कि जो विपथगामी पापी हैं उन्हें भी मैं प्यार करूँ। मैं सरल लोगों को प्यार करूँ और छोटे लोगों को भी। मैं बच्चों को - पृथ्वी के देवदूतों को प्यार करूँ।

श्रीरामकृष्ण बारम्बार कहते हैं कि इस कलियुग में - अधिकार और सत्ता के युग में ईश्वर को पाने का उपाय है भक्तिमार्ग। जो भक्ति के इस रास्ते चलना चाहते हैं उनके लिए निम्नलिखित पाँच बातें करणीय हैं -

(१) ईश्वर के नाम और विभूतियों का गान

करो।

(२) सज्जनों का संग करो। दिन और रात सदैव पवित्रता और आध्यात्मिक जिज्ञासा के वातावरण में रहने के लिए भक्त के सम्पर्क में रहो। अन्यथा कुत्सित वस्तुओं से भरा हुआ संसार तुम्हें निगल जायेगा।

(३) प्रतिदिन निर्जन में जाकर ईश्वर पर, काली पर, किसी साधु या भक्त पर, कृष्ण, चैतन्य, ईसा, बुद्ध, नानक या कबीर के उपदेशों और कार्यों पर ध्यान करो। निर्जन कोने में बैठकर "एकमात्र ईश्वर ही सत्य है" इस तत्त्व पर बारम्बार ध्यान करो। देखो, संसार की हर चीज कैसे नाश को प्राप्त हो रही है! सभी चीजें नष्ट होती हैं। घर, मकान, संस्थाएँ, राज्य, साम्राज्य – सभी नष्ट होते हैं। एकमात्र जगन्माता ही सत्य है। निर्जन और शान्त स्थान में इस प्रकार ध्यान करते करते तुम्हें वह तत्त्व प्राप्त होगा जिसे ऋषि विवेक कहते हैं। तब तुम जानोगे कि सभी चीजें क्षणिक हैं, केवल वह एक, आत्मा ही अविनाशी है।

श्रीरामकृष्ण संसार की सारी चीजों को 'कामिनी' और 'कांचन' इन दो भागों में बाँट देते हैं। कामिनी का अर्थ है नारी, और कांचन का अर्थ है स्वर्ण, धन, सम्पत्ति। कामिनी भोग की वृत्ति है और कांचन लोभ की। कामिनी कामसुख की इच्छा है और कांचन

संसार का धन है। कामिनी और कांचन दोनों नष्ट होते हैं। अतएव उनके पीछे मत दौड़ो। अविनाशी की ही खोज करो। सत्य, सनातन और शाश्वत तत्त्व का ही अनुसन्धान करो।

(४) प्रतिदिन अपने कर्तव्य-कर्म करो पर ईश्वर को न भूलो। ठीक है कि तुम्हें कार्य करने हैं, अपने परिवार को देखना है, पर देखना कि कहीं 'कर्म' और 'परिवार' ही तुम्हारा सारा समय और तुम्हारी सारी शक्ति न ले ले। अपना स्वधर्म अवश्य करो, अपना कर्तव्य अवश्य पूरा करो, पर प्रभु का स्मरण न भूलो। हाथ से अपना दिन-प्रतिदिन का कार्य करो पर हृदय में हरि को रखो।

जब मुझे अपने प्यारे सिन्ध से बाहर जाना पड़ा तो मैं गाँव से एक रसोइया साथ लेता आया। वह बिला नागा रसोई में जाकर अपना काम करता। उसने बड़ी ईमानदारी से मेरी सेवा की। वह मेरे लिए रसोई बनाता, पर कभी कभी रसोई में बैठे बैठे उसका चेहरा गम्भीर हो जाता। एक दिन मैंने पूछा, "कहो, क्या बात है?" उत्तर में वह बोला, "जी, बात यह है कि घर से बहुत दूर हूँ। यहाँ रहकर मैं आपकी सेवा करता हूँ, आपके लिए रसोई बनाता हूँ, पर मेरा मन बार बार गाँव में अपने घर की ओर चला जाता है।"

रसोइये ने जो कहा वह कितना सत्य है! मैं अपना कर्तव्य पूरी तरह करूँ, पर जैसे रसोइये का

हृदय अपने कामकाज के बावजूद अपने गाँव के घर में पड़ा था, उसी प्रकार मैं भी अपने कार्य में लगे रहकर अपने हृदय को अपने यथार्थ घर– श्रीभगवान् के चरणों में लगा रखूँ।

(५) ईश्वर के लिए तुम्हारे हृदय में विकलता हो। यह विकलता आँसू बनकर उमड़े। रामकृष्ण कहते हैं– लोग धन के लिए, बच्चों के लिए, पत्नी और यश-नाम के लिए कितना रोते हैं। पर भगवान् के लिए भला कौन रोता है ? वे कहते हैं– अरे ! जगन्माता के लिए रोओ; देखोगे वह अपनी सन्तान को नहीं छोड़ेगी। उसके लिए रोने पर वह आयेगी और तुम्हें अपनी गोद में उठा लेगी।

श्रीरामकृष्ण के हृदय की प्रबलतम अभिलाषा थी– जगन्माता के साथ मिल जाने की।

श्रीरामकृष्ण के अवतीर्ण होने से शताब्दियों पूर्व संसार के एक महानतम विचारक शंकराचार्य ने कहा था कि भक्ति में आत्मा का वास्तविक रूप प्रतिबिम्बित होता है। वे कहते हैं– "मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी"– मोक्ष प्राप्ति के साधनों में भक्ति श्रेष्ठ है।

रामकृष्ण स्वयं को प्रेमपथ का पथिक अनुभव करते थे। उनकी प्रार्थनाओं का केन्द्र ईश्वर था। ईश्वर ही उनकी एकमात्र आकांक्षा थी। वही उनकी गहनतम अनुभूति थी। हर साँस के साथ उनकी यही लालसा व्यक्त होती थी– "प्रभो ! मेरे पास आओ।"

एक महान् सूफी सन्त ने ठीक ही कहा है, "जो प्रेमपथ का पथिक है उसके लिए पहली शर्त यह है कि वह अपने आपको धूल और राख के समान विनीत बना ले।" यह निःसन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि रामकृष्ण धूल और राख के ही समान विनीत थे, तृण के समान विनयी थे। रामकृष्ण की भक्ति विनय की आभा से प्रदीप्त थी।

श्रीरामकृष्ण के दैनन्दिन जीवन में भगवद्गीता का मर्म उतरा था– "समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्"–सबमें उसी एक ईश्वर को देखते हुए सर्वभूतों के प्रति समभाव। वे सभी में जगन्माता के दर्शन करते थे।

श्रीरामकृष्ण ने अपने को परमात्मा में और परमात्मा के सभी रूपों में खो देना सीखा था। अन्तर्पथ के एक महान् उपदेशक ने कहा है, "जब तुम अपने को खो देना सीखोगे तब प्रियतम को पा सकोगे।" श्रीरामकृष्ण सर्वत्र उस प्रियतम के मिलनसुख का अनुभव करते थे। हर रूप में, हर अभिव्यक्ति में, सूर्य और वर्षा में, श्रम और परिश्रम में, सेवा और त्याग में, नीच और उपेक्षित में उन्हें अपना प्रियतम दिखायी देता था। उनके लिए जगन्माता काली जीवन की आभा थी और मृत्यु की भी। हाँ, मृत्यु भी उनके लिए जगन्माता की दूतिन और ईश्वर की सखी थी!

श्रीरामकृष्ण में एकत्व की जो निगूढ़ अनुभूति थी वह वैष्णवोक्त आदर्श के साथ समरस हो गई थी जिसमें

ईश्वर की धारणा मायापति के रूप में की गयी है। अतएव उनके लिए माया, माया न रहकर लीला बन गयी थी जिसके माध्यम से आत्मा क्रीड़ा करता है। माया उनके लिए बन्धनकारक नहीं रह गयी थी, संसार धोखे की टट्टी नहीं था जिसे अपने से दूर किया जाये। उनके लिए सारे बन्धन छिन्न हो चुके थे। संसार जगन्माता का लीला-स्थल बना हुआ था।

श्रीरामकृष्ण का आध्यात्मिक जीवन जैसे-जैसे विकसित होता गया, उन्हें अनुपम अनुभूतियाँ होने लगीं। अचानक, उन्हें प्रतीति हुई कि वे राधा हैं और कृष्ण उनके प्रियतम हैं। बस, कुछ समय तक वे राधा की वेशभूषा धारण करते रहे और उन्हें समाधि में प्रियतम कृष्ण के दर्शन हुए। उन्होंने अनुभव किया कि वे जड़ से, संसार की वस्तुओं से अथवा घटना से बँधे हुए नहीं हैं, बल्कि वे मुक्त हैं; यही नहीं, नित्यमुक्त हैं। उन्हें दरिद्र, पतित, परित्यक्त और पापी के साथ गहन एकात्मकता की अनुभूति हुई थी। उनका जन्म तो उच्च ब्राह्मण-वर्ण में हुआ था, पर अब वे अनुभव करने लगे कि वे चाण्डालों से अभिन्न हैं और वे भंगी का काम करने लगे। भिखारियों और चाण्डालों को दिये गये भोजन को ग्रहण करने में उन्हें हिचक नहीं होती थी। एक परित्यक्त की तरह वे चुपचाप रात्रि में मन्दिर की सफाई कर दिया करते और मन्दिर में प्रसाद पानेवाले भिखारियों की जूठन भी ग्रहण कर लेते।

सर्वभूतों में एकत्व की परम अनुभूति से उनका हृदय पगा हुआ था। वे वेश्याओं को प्रणाम करते और उनसे आशीर्वाद माँगते। उन्हें दरिद्रों और गिरे हुए लोगों की सेवा में हार्दिक आनन्द का अनुभव होता। समाज द्वारा परित्यक्त लोग उनके लिए अनचीन्हे नहीं थे। दुखियों के लिए वे भाई के समान स्नेही थे।

कुछ लोगों ने मुझसे पूछा कि श्रीरामकृष्ण का धर्म क्या था? क्या वह वेदान्त था अथवा शैव? क्या वे सनातनी थे? क्या वे मुसलमान फकीर के अनुयायी थे अथवा ईसाई साधु के? क्या वे बौद्ध अर्हत के माननेवाले थे? क्या बोधिसत्त्व के समान वे तब तक निर्वाण को स्वीकार नहीं करनेवाले थे जब तक सृष्टि के समस्त प्राणियों की सुरक्षा न हो जाती? इन प्रश्नों के उत्तार में मैंने कहा, "रामकृष्ण का धर्म प्रेम का धर्म था।" और सचमुच, जो प्यार करते हैं उनके लिए जगदम्बा को छोड़ और कोई धर्म नहीं है! आधुनिक भारत और आज के संसार को श्रीरामकृष्ण का श्रेष्ठ संदेश इसी समन्वय, एकत्व और प्रेम का है।

श्रीरामकृष्ण ने इस सत्य की शिक्षा दी कि यदि तुम सचमुच ईश्वर को देखना और उनकी सेवा करना चाहते हो तो अपने हृदय के भीतर देखो। अतएव, पहली बात यह कि हृदय विनीत हो और दूसरी यह कि वह प्रेम की अग्नि से प्रज्वलित हो। पूर्व और पश्चिम में सर्वत्र आज हमें बुद्धिवादियों या उद्योगपतियों

को आवश्यकता नहीं है, न ही हमें अभियांत्रिक संस्थाओं और सतही, बाह्य, धन एवं मशीनप्रधान सभ्यता की आवश्यकता है। आज जिस बात की परम आवश्यकता है वह है प्रेम से धधकता हुआ हृदय, जो विनम्र और विनत हो। ऐसा हृदय वाले व्यक्ति ही नवीन शान्ति-आन्दोलन की बुनियाद डाल सकेंगे और चुपचाप एक नयी भ्रातृभाव पूर्ण सभ्यता के शिल्पी बन सकेंगे। यह कार्य सत्ता और अधिकार में लिप्त व्यक्ति नहीं कर सकते।

फारस के महान् सन्त रूमी अपनी एक सुन्दर कविता में लिखते हैं– एक दिन पैगम्बर मूसा ने रास्ते में एक गड़रिये को देखा। गड़रिया रोते हुए प्रार्थना कर रहा था– "हे प्रभो ! तुम कहाँ हो ? मैं तुम्हारी सेवा करना चाहता हूँ। आओ, तुम्हारे केश सँवार दूँ, तुम्हारे कपड़े धो दूँ। तुम्हारे सिर से जूँ निकाल दूँ। तुम्हें दूध पिला दूँ। तुम्हारे नन्हे हाथों को चूम लूँ। तुम्हारे सुकुमार पैरों को मल दूँ और तुम्हारे छोटे कमरे में रात में तुम्हारे सोने के पहले झाड़ू लगा दूँ।"

पैगम्बर मूसा यह सुनते ही आगबबूला हो गये और गड़रिये से कठोर शब्दों में कहा, "अरे मूर्ख ! यह मूर्खताभरी बातें तू किससे कह रहा है ? तू कैसा घोर पाप कर रहा है ! परमपिता परमेश्वर के प्रति ऐसे उद्‌गार निकलने के पहले, बेहतर था कि तेरी जीभ चिपक जाती ! नीच गड़रिये ! तेरे शब्द अपराधपूर्ण हैं। अपने मुँह में कपास ठूंस ले और अपने प्रभु के प्रति

ऐसी श्रद्धाहीन बातें कभी न कहना। वे चाहें तो तुझे पलभर में राख और धूल में मिला सकते हैं !"

मूसा की झिड़क सुनकर गड़रिये ने मनस्ताप से अपने कपड़े चीथ डाले और जोरों की साँस लेता हुआ वह जल्दी से जंगल में घुस गया।

रात्रि में मूसा को आकाशवाणी हुई– "मूसा ! तुझे संसार में जोड़ने के लिए भेजा गया, तोड़ने के लिए नहीं। पर तूने मुझसे मेरा सेवक, मेरा भक्त, दूर कर दिया। वह गड़रिया मेरा प्यारा है। मूसा ! भूल मत कि हर प्रकार की उपासना मेरी ही है। भले ही तरीके भिन्न हैं और धर्म भी अलग अलग हैं, पर वे सब के सब मेरे हैं। हर एक का अपना रास्ता है, अपना तरीका है, अपनी पद्धति है और अपनी शैली है। मूसा ! मैं जीभ और शब्दों की ओर नहीं देखता, मैं तो भीतर के भाव और मर्म को ही देखता हूँ।"

मूसा उस गड़रिये को खोजने निकल गये और उसके पास पहुँचकर बोले, "भाई ! मुझे अपने किये पर दुःख है। तुम मुझे क्षमा कर दो।"

रामकृष्ण भी ऋषियों के समान जोड़ने के लिए भेजे गये थे, तोड़ने के लिए नहीं। मेरा मन बारम्बार उनकी ओर जाता है। सचमुच, रामकृष्ण ऋषियों की ही परम्परा में से थे, जिन्होंने अतीत में भारत को सच्चे अर्थों में शक्तिसम्पन्न बनाया था।

●

स्वामी ब्रह्मानन्द के कुछ संस्मरण

स्वामी शाम्भवानन्द

परमात्मा की कृपा से मैं राखाल महाराज– स्वामी ब्रह्मानन्द– के चरणों में बैठ सका था। यद्यपि श्रीरामकृष्ण के इस मानसपुत्र के साथ मेरा व्यक्तिगत सम्पर्क अल्प अवधि के ही लिए था, परन्तु इन चालीस वर्षों में उस दर्शन का प्रभाव क्षीण होने के बदले प्रबलतर ही हुआ है। वास्तव में उनसे सम्पर्क मेरे जीवन की एक अमूल्य निधि रहा है और उससे मेरा जीवन असाधारण रूप से सुवासित रहा है। इस अलौकिक व्यक्तित्व ने मेरे जीवन को मधुमय बना दिया है।

सन् १९२१ में महाराज ने दक्षिण भारत की यात्रा की और मद्रास आये। वहाँ उन्होंने नवनिर्मित विद्यार्थी-भवन का उद्घाटन किया और मयलापुर के नवीन उपासनागृह की प्राण-प्रतिष्ठा की। उस समय स्वामी निर्मलानन्द बंगलौर केन्द्र के अध्यक्ष थे। उन्होंने महाराज से बंगलौर आकर वहाँ कुछ दिन रहने का अनुरोध किया। बंगलौर मद्रास से दो सौ मील दूर है। महाराज राजी हो गये और बंगलौर आकर लगभग तीन महीने वहाँ रहे। यदि मैं भूल न कर रहा होऊँ तो वे जुलाई, अगस्त और सितम्बर के महीने थे।

मैं बंगलौर में सन् १९२० में रामकृष्ण संघ में प्रविष्ट हुआ। अतः जब महाराज वहाँ आये, तब मैं आश्रम में ब्रह्मचारी के रूप से रहता था। मैं उन तीन

महीनों का कृतज्ञ हूँ, क्योंकि यही मेरी महाराज से प्रथम और अन्तिम भेंट थी। वे १० अप्रैल, १९२२ को कलकत्ते में महासमाधिस्थ हो गये।

महाराज के साथ यात्रा में काफी लोग रहा करते थे। जब वे सन् १९२१ में बंगलौर आये तब उनके साथ उनके गुरुभाई स्वामी शिवानन्दजी भी थे; फिर स्वामी वरदानन्द और स्वामी अनन्तानन्द भी साथ थे। इसके अतिरिक्त दो और लोग साथ आये थे। उनमें से एक स्वामी निर्वाणानन्दजी थे, जो सुज्जी महाराज के नाम से संघ में परिचित हैं। इसके भी ऊपर, साथ में एक ब्रह्मचारी थे और एक रसोइया।

महाराज का बंगलौर आना जब तय हो गया तो हमने कई दिन पहले से तैयारियाँ प्रारम्भ कर दी थीं। कार्य का अधिक भार मुझ पर और अन्य एक ब्रह्मचारी जी पर पड़ा। अभी इनका नाम स्वामी सुखानन्द है और वे कांचीपुरम् में रहते हैं। जिन कमरों में अतिथि ठहरनेवाले थे, उनकी सफाई हमें करनी पड़ी और महाराज एवं अन्य अतिथियों की सुविधा के लिए आवश्यक वस्तुओं का प्रबन्ध करना पड़ा। हम लोग अत्यन्त व्यस्त थे और महाराज के दर्शन की कल्पना से हम पर एक प्रकार की उत्तेजना भी छा गयी थी।

महाराज के आगमन और उनके दर्शन से मुझ पर पड़ी प्रथम छाप को मैं जीवन भर भुला न सकूँगा। जब वे रेलवे स्टेशन से आकर आश्रम में गाड़ी से उतरे, तो

केवल यही एक विचार आया, "देखो, वह एक राज-कुमार उतर रहे हैं !" स्वामी निर्मलानन्दजी ने उनसे मेरा परिचय कराते हुए कहा, "यह नया साधक है।" महाराज के देखने का ढंग ऐसा था कि तभी मुझे लग गया कि हर एक के प्रति वे अत्यन्त स्नेही और कृपालु हैं।

आने वाले सप्ताहों में मैं भी उस अलभ्य स्नेह का भागी होनेवाला था। प्रतिदिन सुबह जब मैं उनके कमरे में उन्हें प्रणाम करने जाता, तो वे इतना दुलार करते, जैसा केवल अपनी माँ से ही पाया था। वे बहुधा इतना स्नेहपूर्वक बातें करते मानों मैं उनकी अपनी सन्तान होऊँ। कभी कभी अपने लिए कुछ काम करने का भार मुझे देते। बड़े स्नेह से कभी कहते, "क्या वह खिड़की कृपया बन्द कर दोगे ?" उनके ऐसे सम्बोधनों से मैं विह्वल हो जाता और सोचता कि वे मेरे प्रति इतने अच्छे क्यों हैं ? कभी कभी हृदय के आवेग में मैं उनसे कह बैठता, "महाराजजी, आप यह 'कृपया' मुझसे क्यों कहते है ?" एक छोटा सा भी सेवाकार्य उनके प्रति करता तो उसके लिए वे प्रशंसासूचक शब्द कहते, मानो मैंने उन पर कोई बहुत बड़ा उपकार किया हो। उनके लिए स्नेह स्वाभाविक था– उनके श्वास-प्रश्वास में व्याप्त था। स्नेह मानो उनसे छलका पड़ता था और यदि कोई उनके समीप जाता तो वह उस स्नेह से नहा-नहा जाता था। महाराज के साथ रहनेवाला

हर व्यक्ति यही सोचता था कि वे उसी को सबसे ज्यादा प्यार करते हैं। प्रत्येक को प्रतीत होता था कि वह महाराज से विशेष रूप से घनिष्ठ है।

मनुष्येतर प्राणी भी महाराज के समान रूप से स्नेहभाजन थे। उस समय आश्रम में एक सुन्दर सा प्यारा कुत्ता था। नाम था जॉकी। महाराज उससे स्नेह करते और भोजन के अन्त में उसे खिलाया करते। वे 'जॉकी जॉकी' कहकर बुलाते और जब वह आ जाता तो स्नेहपूर्वक उसे खिलाते। ऐसे समय यह कहना कठिन था कि उन दोनों में कौन अधिक सुखी है। जॉकी के लिए महाराज का स्नेह और महाराज के लिए जॉकी की निष्ठा एक दर्शनीय वस्तु थी। तब आश्रम में कुछ अच्छी नस्ल की गायें थी। महाराज गोशाले में चले जाते और गौओं का दाना-पानी देखते रहते।

पहले दिन आश्रम में आकर जब महाराज व्यवस्थित हो गये, तो वे बाहर आकर आश्रम के बगीचे को देखने चले गये। बंगलोर रहते समय वे लगभग प्रतिदिन बगीचा देखने चले जाते। उन्हें वहाँ के सारे पौधों और वृक्षों का ज्ञान था और सब पर उनका स्नेह था। वास्तव में, वे तो बागवानी में बड़े निपुण थे।

कुछ दिनों बाद, मुझे महाराज की कतिपय सेवाओं का भार सौंपा गया। मैं प्रतिदिन एक भक्त के यहाँ जाकर महाराज के लिए 'रसम्' ले आता। भक्तों में भी स्नेहपूर्ण होड़ लगी रहती कि महाराज को अपना

अपना स्वादिष्ट पक्वान्न खिलाया जाये। महाराज सबकी भेंट स्वीकार कर लेते और जैसे कृष्ण ने सुदामा के तन्दुल खाये थे उसी प्रकार वे सबकी दी हुई चीजों को ग्रहण करते। मैं महाराज की पसन्द की तरकारी-भाजी खरीदने सब्जीबाजार जाया करता और डाक-खाने जाकर आश्रम की डाक लाने का काम भी करता। डाक में अधिकतर महाराज की ही चिट्ठियाँ अधिक होतीं।

एक घटना ने मुझे जीवन भर प्रभावित कर रखा है। महाराज अपने कमरे में आरामकुर्सी में बैठे हुए थे। मैं डाकघर से कुछ चिट्ठियाँ ले आया था। जब मैंने महाराज को चिट्ठियाँ दे दीं तो उन्होंने पास की मेज पर रखे अपने चश्मे को माँगा। चश्मे को उठाकर मैंने काँचों को देखा कि कहीं उन पर धूल तो नहीं है। उन्होंने कहा, "हाँ, कृपया काँचों को पोंछ दो।" खूँटी पर महाराज की ऊनी चादर टँगी थी। मैंने चादर के कोने को काँच पोंछने के लिए पकड़ा ही था कि महा-राज बोल उठे, "अरे नहीं; देखो, टेबल पर चश्मा पोंछने का चमड़ा रखा है। चश्मे की धूल उस चमड़े से साफ करनी चाहिए, न कि शाल से।" है तो घटना छोटी, पर यह महाराज की सुरुचि और सलीके को प्रकट करती है। वह दिखाती है कि महाराज की सफाई और शुचिता के प्रति कैसी अपूर्व निष्ठा थी। अपने परिधान के वस्त्र से सफाई का काम लेना— भले ही वह

अपने ही चश्मे के काँच की सफाई हो— महाराज के लिए गलत काम था।

एक दूसरी घटना घटी, जिसका प्रभाव भी आज तक मन पर बना हुआ है। जब मैं डाकघर से डाक लाता तो रास्ते में ही चिट्ठियों को छाँट लेता, जिससे आश्रम पहुँचते ही मैं अतिथियों और आश्रम के लोगों को अलग अलग उनके नाम की चिट्ठियाँ तुरत दे दूँ। एक दिन डाक में मेरे लिए भी दो-तीन पत्र थे। डाक-घर से आश्रम लौटते समय मैं इन चिट्ठियों को पढ़ने में लग गया और पढ़ते पढ़ते आश्रम के दरवाजे पर पहुँच गया। रोज के समान चिट्ठियाँ छाँटना भूल ही गया। और उस दिन, मेरा भाग्य ही कहिए, महाराज बरामदे पर बैठे हुए थे और स्वामी शिवानन्दजी से बातें कर रहे थे। महाराज ने मुझे देखकर चिट्ठियों के लिए तुरन्त हाथ बढ़ा दिया। मैं एकदम घबड़ा गया और काँपते हाथों से पत्रों को नाम के अनुसार जमाने का प्रयत्न करने लगा। महाराज अधीर हो उठे और उन्होंने मेरे हाथों से चिट्ठियाँ छीन लीं और स्वयं छाँटने लगे। मैं उस दिन कितना लज्जित और दुखी हुआ! मैं पूरा दिन और पूरी रात अपनी इस त्रुटि पर अफसोस करता रहा और उसकी स्मृति आज भी मुझे कभी कभी कचोट दिया करती है। परन्तु इस घटना के पीछे भी कोई एक महत् उद्देश्य छिपा था; क्योंकि इससे मैंने जीवन का एक महत्त्वपूर्ण पाठ सीखा। वह यह कि हमें आगे

की सोचकर कार्य के लिए अग्रसर होना चाहिए जिससे हम पहले से जान लें कि हमें क्या करना है, और इस प्रकार आनेवाली घटनाओं के लिए अपने आपको पूरी तरह तैयार कर रखें। अब यह अभ्यास मेरे जीवन में सध गया है। इससे विश्वास और धीरज के साथ काम करने में बड़ी सहायता मिलती है।

महाराज अपने सम्पर्क में आनेवाले ब्रह्मचारियों और संन्यासियों का सूक्ष्मता से अध्ययन करते। उनकी दृष्टि बड़ी पैनी थी। फलस्वरूप, वे व्यक्ति के दोष को देख लेते और इसके पहले कि वह दोष अपनी जड़ें जमा ले और व्यक्ति को हानि पहुँचाये, वे उसे बताकर दूर कर देते। वे, विशेषतः अपनी सन्तानों में, अहंभाव के दोष को शीघ्र पकड़ लेते और बलपूर्वक उसे निकालने का प्रयत्न करते। उदाहरणार्थ, स्वामी वरदानन्द जब भक्तों को पत्र द्वारा महाराज के आशीर्वाद और मंगलकामनाएँ भेजते, तो अपने हस्ताक्षर के नीचे यह पदवी लिखा करते– "अध्यक्ष, रामकृष्ण मिशन के सचिव"। एक समय पता नहीं कैसे, एक इसी प्रकार का पत्र महाराज के हाथों में पहुँच गया। महाराज कठोर आघात करते हुए सबको सुनाकर बोले, "देखो तो, इस आदमी को तो देखो। वह अध्यक्ष का सचिव बन गया है। किसने उसे अध्यक्ष का सचिव बनाया ?" महाराज ने स्वामी वरदानन्द की कठोर ताड़ना की और कुछ देर तक लगातार यह ताड़ना चलती रही।

बंगलौर में अवस्थान के समय जिस कमरे में महाराज ठहरे थे, मेरा कमरा ठीक उसी के बाजू में था। मैं उन्हें ब्राह्ममुहूर्त में ४ बजे उठकर स्नानघर जाते हुए सुनता। वे प्रायः कोई भजन गुनगुनाया करते। ध्वनि बड़ी कठिनाई से सुन पड़ती थी, पर भजन का स्वर ऐसा भक्तिभावपूर्ण रहता कि जो भी उसे सुनता, रोमांचित हो जाता।

महाराज के कार्यकलाप ऐसे थे कि सदैव प्रतीत होता कि महाराज बहुधा किसी के साथ– किसी दिव्य व्यक्ति के साथ वार्ता-रत हैं। उदाहरणार्थ, वे प्रायः बगीचे में अकेले टहला करते। यदि कोई उन्हें देखता रहता तो यह पाता कि वे बीच बीच में रुक जाते हैं और हाथ जोड़कर प्रणाम करते हैं, मानो कोई देवता उनके सामने उपस्थित हो।

महाराज की ऐन्द्रिक संवेदना बड़ी तीव्र थी। हम पहले कह चुके हैं कि उनके अवस्थान काल में भक्तों में महाराज को खिलाने के लिए एक प्रकार से होड़ लगी रहती। अतः भोजन के समय आश्रम में बनी चीजों के अलावा बाहर से आयी हुई कई चीजें भी रहतीं। इनमें तरह तरह की दाल, सब्जियाँ और अन्य व्यंजन होते। महाराज भक्तों को सन्तुष्ट करने के लिए आयी हुई सभी चीजों का थोड़ा थोड़ा स्वाद लेते। वे बता देते कि कौन सी चीज ठीक पकी हैं तथा किसमें कौन कौन से मसाले डले हैं। जब वे किसी भक्त को देखते जिसके

घर से कोई विशेष वस्तु आयी रहती, तो उन्हें उस वस्तु का ठीक स्मरण रहता और वे विस्तार से उसकी खूबियों की चर्चा करते। एक दिन सुज्जी महाराज ने रसम् तैयार किया। यह जानी हुई बात थी कि महाराज को रसम् में प्याज पसन्द न थी, अतः सुज्जी महाराज ने सावधानीपूर्वक रसम् से प्याज को दूर रखा। पर जब इस रसम् को महाराज ने चखा तो उन्होंने जोर देकर कहा कि इसमें प्याज मिली है। सुज्जी महाराज ने इसका प्रतिवाद किया। पर महाराज अपनी बात पर जोर देते रहे। सुज्जी महाराज विचलित हो उठे और रसोईघर की ओर आये। मन में विचार उठा, कहीं आश्रम के रसोइये ने तो उसमें प्याज नहीं डाल दी? पूछने पर मालूम पड़ा– नहीं। तरकारियाँ जिस घी में पकायी गयी थीं उसमें तो कहीं से प्याज नहीं आ गयी? नहीं, उसमें भी नहीं थी। अन्त में सुज्जी महाराज ने चाकू को देखा जिससे धनिया के पत्ते रसम् बनाने के लिए काटे गये थे। हाँ, सुज्जी महाराज के पहले किसी ने चाकू से प्याज काटी थी!

स्वामी प्रभवानन्द ने अपनी पुस्तक 'The Eternal Companions' में लिखा है कि महाराज को हास्य-विनोद प्रिय थे। उनका यह गुण मैंने भी देखा। सारा दिन वे हमें हँसी से लोट-पोट करते रहते थे।

एक "पहलवान" ने अखबार में विज्ञापन दिया। विज्ञापन में अपना चित्र छपवाकर यह लिखा, "यदि

आप मेरे समान होना चाहते हैं. . .” । महाराज अपने रसोइये या ब्रह्मचारी सेवक से कहते कि तुम भी उस पहलवान के समान मांसपेशियों को फुलाकर चिल्लाओ, “यदि आप मेरे समान होना चाहते हैं . . .।”

महाराज स्वामी वरदानन्द से शब्दों का खेल खेला करते । यह उन्हें बड़ा पसन्द था । खेल का एक तरीका यह है कि पहला व्यक्ति ऐसा शब्द खोजता है जिसका अनुप्रास वाला शब्द विरोधी न खोज सके । उदाहरणार्थ, महाराज ने कहा ‘क्रिकेट’ । यदि स्वामी वरदानन्द इसकी जोड़ का कोई अनुप्रास वाला शब्द न खोज सके तो उनकी हार होती । पर यदि, उदाहरण के लिए वे उत्तर में बोलते ‘विकेट’, तो महाराज को इसी ध्वनिसाम्य तीसरा शब्द खोजना पड़ता । न खोज पाने से उनकी हार मानी जाती । एक शाम महाराज ने स्वामी वरदानन्द को डेढ़ घंटे इस खेल में लगाये रखा । स्वामी वरदानन्द रसोईघर में थे और महाराज बरामदे में बैठे थे । मैं उन दोनों के बीच शब्द लाने ले जानेवाले का काम कर रहा था । स्वामी वरदानन्द आखिर इस खेल से तंग आ गये और मुझे महाराज को यह सन्देश देने के लिए भेजा– “इट इज़ लेट एट नाइट” (रात में देर हो चुकी है) । महाराज ने तुरन्त अपनी जीत को बरकरार रखते हुए उत्तर भिजवाया– “टेल हिम गुड नाइट” (उसे शुभयामिनी कहो) ।

लगभग सारा दिन इसी प्रकार विनोद चला करता ।

जब तक महाराज हम लोगों के साथ थे, ऐसा लगता कि हम सारी चिन्ताओं और जिम्मेदारियों से मुक्त हैं। किन्तु जब सान्ध्य आरती के पश्चात् ध्यान में बैठने का समय आता तो सभी कुछ बदल जाता था। महाराज बिलकुल भिन्न व्यक्ति हो जाते थे। कमरे की बत्ती धीमी कर दी जाती और वे पद्मासन में स्थिर होकर बैठ जाते। तब एक गम्भीर, पावन शक्ति आश्रम पर उतर आती। तब जो भी उनके कमरे के सामने से गुजरता या कमरे में प्रवेश करता, अत्यन्त श्रद्धाविनत होकर करता। यहाँ तक कि स्वामी निर्मलानन्दजी भी, जो दक्षिण भारत में जबरदस्त प्रचारक के रूप से प्रसिद्ध थे और जिन्होंने कई केन्द्र खड़े किये थे, महाराज के पुनीत सान्निध्य में एक छोटे बच्चे की तरह हो जाते। ध्यान की अवधि समाप्त होने पर पुनः हास्य-विनोद का क्रम चलने लगता। कभी कभी आरती के पश्चात् भजन गाये जाते। तब महाराज, स्वामी शिवानन्दजी के साथ, भजन सुनते रहते।

कहा जा चुका है कि महाराज को फूल-पेड़-पौधों का शौक था और उन्हें बागवानी की विस्तृत जानकारी थी। उनकी योजना थी कि भुवनेश्वर के आश्रम में एक सुन्दर बगीचा तैयार किया जाय। उन्होंने मुझे बंगलोर के नर्सरी वाले से सब प्रकार के बीज लेकर भुवनेश्वर मठ के अध्यक्ष को भेज देने के लिए कहा, जिससे वहाँ ये बीज लगाये जा सकें। मैंने वनस्पतिशास्त्र पढ़ा था,

इसलिए कई वृक्षों और फूलों के लैटिन नाम बता सकता था। बंगलौर की ओर प्रसिद्ध एक फूलोंवाला छायादार वृक्ष महाराज को विशेष प्रिय था। उन्हें उसके फूलों की मन्द-मधुर गन्ध बड़ी प्रिय थी। उसे लैटिन में 'साइथ्रेक्ज़ीलोन सब्सरेटम' कहते हैं। महाराज को उसका यह नाम भी पसन्द था, पर उन्हें यह नाम ख्याल नहीं रहता था। अतः महाराज के सामने यह प्रभावात्मक ध्वनि वाला नाम उच्चारित करने मुझे प्रायः ही आना पड़ता।

महाराज को पालक की शाक और अन्य हरी सब्जियाँ पसन्द थीं। एक दिन उन्होंने मुझसे पूछा कि बंगलौर की सब्जी मण्डी में कितने प्रकार की हरी सब्जियाँ मिलती हैं? मैंने उत्तर दिया, "पता नहीं। पर कई प्रकार की होनी चाहिए।" महाराज बोले, "बहुत अच्छा, एक दिन तुम हमें भी वहाँ ले जाना और जितने प्रकार की सब्जियाँ मिलेंगी, सब ले आयेंगे।" कुछ ही दिन पश्चात् उन्होंने मुझे बुलाया और कहा, "चलो, आज सब्जियाँ खरीद लायें।" स्वामी वरदानन्द साथ में नहीं आनेवाले थे। अतः मुझे ही अकेले महाराज को बाजार में ले जाने का सौभाग्य मिलनेवाला था। कैसा सुअवसर था वह! हम लोग पैदल ही बाजार की ओर चल पड़े। बाजार वहाँ से दो मील दूर था। वे आगे आगे चले और मैं उनके बच्चे के समान पीछे पीछे चला। विभिन्न दुकानों में सब मिलाकर आठ या दस

किस्म की हरी सब्जियाँ मिलीं। महाराज ने प्रत्येक प्रकार की सब्जी खरीद लेने के लिए कहा। जब मैं खरीदने में लगा था तो वे इधर उधर घूम-घूमकर देखते रहे। जब मेरा खरीदना हो गया, तो महाराज मुझे कहीं दिखायी न पड़े। मैं बड़ा चिन्तित हो गया। मेरी दशा उस बच्चे के समान हो गयी जो भीड़ में अपने पिता को खो देता हो। मैं भाग-भागकर उन्हें इधर उधर खोजने लगा। इतने में एक कुली ने मुझे बताया कि उसने महाराज को बाजार से बाहर निकलकर आश्रम की ओर जाते देखा है। मुझे भीतर कुछ चोट सी लगी और भय भी हुआ कि मैंने मार्गदर्शक के रूप में अपना काम पूरा नहीं किया। मैं चिन्तित हो शीघ्रतापूर्वक आश्रम लौटा और सीधे महाराज के कमरे में चला गया। वहाँ वे बैठे थे। मैंने उन्हें बताया कि उन्हें न देखकर मैंने कितना उन्हें खोजा। वे मुसकराये और संक्षिप्त सा उत्तर देते हुए बोले, "मैं जानता था कि तुम खोजोगे।"

यद्यपि मैं महाराज से इतनी बार मिलता रहता था और उनसे दीक्षा लेने के लिए उत्सुक था, पर मुझे उनसे यह कहने में हिचक हो रही थी कि आप मुझे अपना शिष्य बना लें। मेरी धारणा थी कि यदि किसी को गुरु दीक्षादान के उपयुक्त समझते हैं तो वे स्वयं होकर इसकी पहल करेंगे। मेरे साथ तो ऐसा ही हुआ भी। एक दिन सुज्जी महाराज ने मुझसे कहा कि महाराज मुझे बुला रहे हैं। मैं महाराज के कमरे में उप-

स्थित हुआ। वहाँ उस समय और कोई नहीं था। मैं महाराज के चरणों के पास बैठ गया। उन्होंने मुझे दीक्षा दी और जप की माला भी प्रदान की। माला देने के पहले उन्होंने स्वयं उसके दानों पर कुछ देर तक जप किया।

महाराज की यह कृपा मेरे लिए अप्रत्याशित थी। मैं विभोर हो उठा। जब जाने के लिए उठा, तो उनके चरणों का स्पर्श करने के लिए झुका। माला तव मेरे हाथ में ही थी। वे एकदम से बोल उठे, "देखो, देखो, माला को मंत्र और पावित्र्य से अभिषिक्त किया गया है। उसे मेरे पैरों से न लगाओ।"

यहाँ पर यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि महाराज स्वयं अपनी माला के प्रति कैसा पुनीत भाव रखते थे। मुझे एक वरिष्ठ संन्यासी ने बताया था कि जब भी महाराज अपनी माला का उपयोग करते हैं तो पहले वे अपने हाथों को धो लेते हैं और तब बड़ी श्रद्धा के साथ माला को डिब्बे से बाहर निकालते हैं। उन संन्यासी ने यह स्वयं अपनी आँखों से देखा था।

कुछ समय पश्चात्, एक तिथि निश्चित करके दूसरे ब्रह्मचारी को महाराज ने संन्यास-दीक्षा दी और मुझे ब्रह्मचर्य व्रत में दीक्षित किया, यद्यपि मुझे संघ में आये दस-ग्यारह महीने ही हुए थे। महाराज ने अपने हाथों से मुझे साधू के त्याग का प्रतीक कौपीन प्रदान किया।

इसके कुछ ही दिनों के बाद महाराज सदलबल

बंगलौर से चले गये। मद्रास में दुर्गापूजा का आयोजन था। महाराज की उपस्थिति ने उस पूजा को एक 'महान् घटना' बना दिया। जब मद्रास छोड़ने का समय आया तो वह भक्तों के लिए बिछोह का क्षण था। महाराज और स्वामी शिवानन्दजी 'प्रभु से विदा माँगने' मन्दिर में गये। दोनों ने वहाँ साष्टांग प्रणाम किया और जब उठकर बाहर आये तो उनके चेहरे गम्भीर थे।

कह चुके हैं कि महाराज ने १० अप्रैल, १९२२ को अपनी देह छोड़ दी। कहते हैं कि अन्तिम समय में उन्हें, आनन्दसागर के बीच खड़े बाँसुरी बजाते हुए कृष्ण के दर्शन हुए थे और उन्होंने अपने आपको कृष्ण के नित्य सखा के रूप में देखा था। उन्होंने अपने नूपुर भी माँगे थे ताकि वे जाकर कृष्ण के साथ नाच सकें।

मैंने दर्शन का थोड़ा बहुत शास्त्रीय अध्ययन किया है और धर्मग्रन्थों को भी पढ़ा है। पर मेरा मन हरदम महाराज के जीवन्त उदाहरण पर आकर टिक जाता है। जब भी मैं चश्मे को उठाता हूँ और पहनने के पहले उसके काँचों को साफ करता हूँ, तो उनके उपदेश मानसपटल पर आ जाते हैं। फूल और वृक्ष मानो उनके दूत हैं। मेरी जपमाला उनकी और उनके गुरु श्रीरामकृष्ण देव की शक्ति के जीवन्त प्रतीक के रूप में मेरे पास मौजूद है। एक महान् आत्मा ही दूसरे के जीवन को प्रभावित और परिवर्तित कर सकता है। महाराज के अलौकिक व्यक्तित्व के संस्पर्श ने मेरे जीवन को जैसा

आधार दिया है, वैसा और किसी ने नहीं।

कहा जाता है कि जब साधारण आदमी मरते हैं तो उनकी स्मृति भी धीरे धीरे क्षीण हो जाती है; परन्तु जब साधु-महात्माओं का निधन होता है, तो जैसे जैसे समय बीतता है, उनका प्रभाव अधिकाधिक होता जाता है। महाराज के साथ रहे आज मुझे चवालीस वर्ष हो गये, पर कालक्षेप के साथ उनके अलौकिक प्रेम का प्रभाव, आनन्द की ऊर्मि बनकर, आज मुझे अधिक बल-पूर्वक आप्लावित कर रहा है।

•

भगवान् की कृपा प्राप्त करना ही आध्यात्मिक जीवन का मुख्य लक्ष्य है। भगवत्कृपारूपी हवा सदा बह रही है। अपनी नौका के पाल खोल दो। संसार के विषय भोगों का त्याग कर प्रभु पर पूर्ण रूप से निर्भर हो जाओ। तुम ईश्वर और संसार दोनों को एक साथ प्रेम नहीं कर सकते। यदि भगवान् को चाहते हो तो लौकिक सुखों से दूर रहो। अभी निश्चय कर लो कि क्या चाहते हो– क्षणिक सुखों का यह अनित्य जीवन अथवा परमानन्द युक्त अमरत्व।

— स्वामी ब्रह्मानन्द

मानव-जीवन का उद्देश्य

ब्रह्मचारी महेश

मानवयोनि सभी योनियों में श्रेष्ठ है। खाने, पीने, सोने, जागने, खेलने आदि की क्रिया तो सभी जीव-जन्तुओं में है परन्तु मानव के पास इसके अतिरिक्त विचारशक्ति भी है जो अन्य प्राणियों में नहीं है। इसी कारण पश्वादि योनियों में कर्म करने की स्वतंत्रता नहीं है, किन्तु मानव अपनी विचारशक्ति के कारण अपनी क्रियाओं पर अंकुश लगाना सीखता है। जिसकी विचार-शक्ति का जितना विकास होता है उसी के अनुसार वह अपना भला-बुरा समझकर, पाशविक जीवन से ऊँचा उठने का प्रयास करता है और जीवन के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अपने चरित्र का तदनुरूप गठन करता है। मानव को कर्म करने में स्वतंत्रता भी है, यद्यपि पूर्ण रूप से नहीं। जब तक मानवमन विचारशक्ति का प्रयोग नहीं करता, वह मानवशरीरधारी पशु ही है। श्री शंकराचार्य कहते हैं, "पशुरस्ति को वा ?" – पशु कौन है ? "विद्याविहीनः"– जो सद्विद्या से रहित है अर्थात् मूर्ख है। किन्तु जब मानव 'विचार-बुद्धि' का प्रयोग आरम्भ करता है तब उसके मन में असंख्य प्रश्न उठने लगते हैं। ये प्रश्न और जिज्ञासाएँ ही उसे उन्नति के पथ पर अग्रसर करती हैं। इस उन्नति के पथ पर एक ऐसी अवस्था सभी मानवमन की होती है जहाँ पर वह साधारण सांसारिक वस्तुओं के ज्ञान से संतुष्ट न

होकर ऊँचे विचारों में विचरण करता है। जिज्ञासा उठती है– "मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? यह जीवन क्या है ? किसलिये है अर्थात् जीवन का उद्देश्य क्या है? यही जीवन सब कुछ है या मरणोत्तर जीवन भी है ?" आदि आदि।

ऋषियों के मन में भी यह जिज्ञासा प्राचीन काल में उठी थी और उन्होंने इस पर विचार किया था तथा कुछ ने इसका समाधान भी पाया था। इन प्रश्नों के समाधान प्राप्त करने के प्रयास ने ही दर्शनों की रचना की है और दार्शनिकों को जन्म दिया है। समाधान-स्वरूप वैदिक सत्यों की प्राप्ति ने ही वेदों की रचना की और इन सत्यों के आविष्कारकों को 'ऋषि' नाम से अलंकृत किया गया।

मानव-जीवन का उद्देश्य क्या है, इसको जानना अत्यावश्यक है क्योंकि यदि गन्तव्य स्थान ज्ञात न हो तो उस तक पहुँचना असम्भव हो जाता है। यदि किसी नाविक के पास पथप्रदर्शक यंत्र (Compass) न हो तो क्या नाव के निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने की आशा की जा सकती है ? यद्यपि मानवजीवन का उद्देश्य अन्त में एक ही है परन्तु फिर भी विकास के विभिन्न स्तरों पर, आत्मा सम्बन्धी भिन्न-भिन्न धारणाओं के कारण, मतभेदों का अभाव नहीं। एक ही व्यक्ति विकास के भिन्न भिन्न स्तरों पर जीवन के उद्देश्य की भिन्न भिन्न धारणा करता है। बच्चे के लिये खिलौने की

प्राप्ति या मिठाई का पाना ही मानो सब कुछ है, विद्यार्थी-जीवन में परीक्षा पास करना या ज्ञान प्राप्त करना ही मानो जीवन का सर्वस्व है, इत्यादि। पर जैसे जैसे आत्मा सम्बन्धी धारणा का विकास होता है, जीवन का उद्देश्य भी तदनुरूप धारित होता है। मुख्यत: इस सम्बन्ध में हम चार मत देखते हैं :–

(१) विषय भोग उद्देश्य– शास्त्रज्ञान-रहित और विचारशून्य साधारण व्यक्ति इस देह को ही सब कुछ मानते हैं। वे और किसी मरणोत्तर जीवन को नहीं स्वीकार करते और देह को ही आत्मा समझते हैं। उनके अनुसार इस शरीर के समाप्त होने पर सब कुछ समाप्त हो जाता है। अधिकतर प्राणियों की धारणा-शक्ति यहीं तक सीमित है। उनकी समस्त चेष्टाएँ भोग-प्राप्ति के लिये होती हैं– कैसे देह सुखी हो, इन्द्रियाँ तृप्त हों ? इत्यादि। जाने-अनजाने में वे चार्वाक हैं और उनका उद्देश्य केवल इतना है –

"यावत् जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत: ।।"

विषयभोग को उद्देश्य माननेवालों को श्रीरामकृष्ण देव की भाषा में हम बद्ध जीव कह सकते हैं। वे उस मछली के समान हैं जो यह भी नहीं जानती कि वह 'जाल में फँस गयी है' और कीचड़ में मुँह दबाकर सोचती है कि वह बड़े आनन्द में है। ऐसा व्यक्ति सर्वत्र मृत्यु के मुख में गिरते हुए प्राणियों को देखता है,

चिताओं को भस्म होते देखता है, यौवन को जर्जर होते देखता है, परन्तु फिर भी भोग-वासनाओं की तृप्ति में ही सुख मानता है और उन्हीं के पीछे लगा रहता है। वह एक विषय से दूसरे विषय को पकड़ने की चेष्टा करता रहता है परन्तु यह विषय हाथ से फिसलते रहते हैं। क्षणिक सुखों को क्या सुख कहेंगे ? इस प्रकार वह जीवन को दौड़-धूप में बिताकर अमूल्य रत्न हाथ से खो बैठता है। विष्ठा का कीड़ा विष्ठा में ही प्रसन्न रहता है, चावल की सुगन्ध या फूलों की मृदु गन्ध से वह मर जायगा। वैसे ही यह जीव विषयों की अतृप्त ठोकरों, दुःख और दुत्कारों में ही सुखी रहता है। वह असीम आनन्द की, अनन्त दिव्य जीवन की कल्पना भी नहीं कर सकता।

(२) स्वर्गादि की प्राप्ति ही जीवनोद्देश्य–

इनसे भिन्न कुछ अन्य व्यक्ति होते हैं जो इस जीवन को ही सब कुछ नहीं मानते। मरणोत्तर जीवन में उनका विश्वास है। वे अपने को शरीर से पृथक् मानते हैं। परन्तु मरणोत्तर स्थिति में भी उनके जीवन का उद्देश्य भोग-प्राप्ति ही है। स्थूल शरीर से नहीं तो सूक्ष्म शरीर से वे भोगना चाहते हैं। समस्त लोकों पर अपना आधिपत्य जमाना चाहते हैं। स्वर्गादि प्राप्त करने के लिये वे इहलोक के सुखों का त्याग कर यज्ञादि द्वारा स्वर्ग की कामना करते हैं। उनके जीवन का उद्देश्य है स्वर्गादि की प्राप्ति और साधन हैं यज्ञादि। मुण्डको-

पनिषद् में आचार्य अंगिरा महागृहस्थ शौनक से कहते हैं–

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं
नान्यत् श्रेयो वेदयन्ते प्रमूढ़ाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वे-
मं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ।। १.२.१०।।

–"इष्ट और पूर्त कर्मों को ही सर्वोत्तम मानने वाले वे महामूढ़ किसी अन्य वस्तु को श्रेयस्कर नहीं समझते। वे स्वर्ग लोक के उच्च स्थान में अपने कर्मफलों को भोग-कर इस (मनुष्य) लोक अथवा इससे भी निकृष्ट लोक में प्रवेश करते हैं।"

यद्यपि स्वर्गादि में दुख नहीं, तब भी वहाँ अनन्त सुख नहीं। पुण्य के क्षीण हो जाने पर पुनः जन्म-मरण के चक्कर में पड़ना पड़ता है। अतः यह भी जीवन का उद्देश्य नहीं हो सकता, क्योंकि 'यदल्पं तन्मर्त्यं यो वै भूमा तत्सुखम्'।

(३) मोक्ष-प्राप्ति ही जीवन का उद्देश्य–

शरीर की पुकार, देह को बढ़िया भोजन खिलाकर, सुन्दर वस्त्रादि से ढककर तथा अमूल्य अलंकारों से सजाकर, शान्त की जा सकती है। इन्द्रियों की पुकार रूप-रस-गन्धादि विषय-भोगों से शान्त की जा सकती है। मन की पुकार मान-यश प्राप्ति से और बुद्धि की पुकार पाण्डित्य से शान्त की जा सकती है। परन्तु अन्त-र्निहित, गूढ़तम प्रदेश में स्थित आत्मा की पुकार इनमें

से किसी भी उपाय द्वारा शान्त नहीं होती। जिस प्रकार माँ से बिछुड़ा हुआ बालक चाहे जितना भी खेल-खिलौनों में उलझे परन्तु जो शान्ति वह माँ की गोद में पाता है, उसे अन्यत्र नहीं पाता, उसी प्रकार संसार के विषयों में यह जीव भले ही कुछ समय के लिये फँस जाय परन्तु अन्त में उसे शान्ति उस परमात्मा की गोद में ही मिलती है।

समुद्र का जल सूर्यताप से मेघ बनकर उड़ता है। यही मेघ ठंडे पर्वतों से टकराकर बरस पड़ते हैं। यही वर्षा का जल पुनः पहाड़ों में उछलता हुआ, मैदानों से बहता हुआ, विभिन्न मार्गों से सीधा और टेढ़ा रास्ता अपनाकर अन्त में उसी समुद्र में मिल जाता है। इसी प्रकार जीव या आत्मा उसी ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं, उसी रास्ते में स्थित हैं और उसी में समा जायेंगे। तैत्तिरीयोपनिषद् भृगुवल्ली में वरुण अपने पुत्र भृगु से कहते हैं, "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।"

—अर्थात्, जिससे यह सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसका बल पाकर यह जीवित रहते हैं और प्रलयकाल में जिसमें लय हो जाते हैं, उसको वास्तव में जानने की अर्थात् पाने की इच्छा कर; वही ब्रह्म है।

स्वभावतः जीव बहिर्मुखी रहता है अर्थात् वह जगत्

की ओर ही भागता है। "चूँकि स्वयम्भू ने इन्द्रियों को बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया, इसी से जीव बाह्य विषयों को देखता है, अन्तरात्मा को नहीं।" कठोपनिषद् में यम नचिकेता से कहते हैं—

पराञ्चिखानि व्यतृणत्स्वयम्भू-
स्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।

ऋषियों ने भी पहले सत्य का आविष्कार बाह्य जगत् में करना चाहा था और बहुत से विज्ञानों की खोज कर डाली थी परन्तु उससे उन्हें शान्ति नहीं मिली। तब उन ऋषियों ने बाह्य जगत् से मन को हटाकर, अन्तर्मुखी हो, खोज आरम्भ की और प्रत्यगात्मा को देख लिया। तभी उन्हें परम शान्ति मिली। इसीलिये श्रुति कहती है—

"कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥" क.उ. २।१।१

—अर्थात्, जिसने अमृतत्व की इच्छा करते हुए अपनी इन्द्रियों को रोक लिया है ऐसा कोई धीर पुरुष ही प्रत्यगात्मा को देख पाता है।

इस प्रकार मोक्ष की इच्छा वालों के लिये इस आत्मा का साक्षात्कार करना ही जीवन का उद्देश्य है। इसी को ब्रह्म-साक्षात्कार या ईश्वर-प्राप्ति भी कहा जाता है। स्वामी विवेकानन्द जी कहते हैं—

"प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है।

"वाह्य एवं अन्तःप्रकृति को वशीभूत करके आत्मा के

इस ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है।

"कर्म, उपासना, मनःसंयम अथवा ज्ञान, इनमें से एक, एक से अधिक या सभी उपायों का सहारा लेकर अपना ब्रह्मभाव व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ।"

भक्त के लिये प्रभु का सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य, सालोक्य ही मोक्ष है। वह प्रभु की सेवा करना चाहता है इसलिए उनसे अभिन्न नहीं होना चाहता। ज्ञानी के लिये जीव और ब्रह्म के ऐक्य का ज्ञान ही मोक्ष है। "मैं ब्रह्म हूँ" यह ज्ञानी अनुभव करना चाहता है। इन दोनों में वस्तुतः कोई पार्थक्य नहीं है, क्योंकि ब्रह्म निराकार भी है और साकार भी।

अन्तःकरण के शुद्ध होने पर जब शिष्य श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप श्रद्धा-भक्ति से जाता है और इस ब्रह्म के बारे में जिज्ञासा प्रकट करता है तब वे कृपालु गुरु उसे ब्रह्मज्ञान का उपदेश करते हैं। तब साधना द्वारा अर्थात् श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा वह भी ब्रह्मपद प्राप्त कर जीवन का चरम लक्ष्य अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।श्वे. उ. ३।८

—अर्थात्, उनको (पुरुषं महान्तं) जानकर ही मनुष्य मृत्यु का उल्लंघन करने में—इस जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा पाने में समर्थ होता है। परमपद की प्राप्ति के लिये इसके सिवा दूसरा कोई मार्ग अथवा उपाय नहीं है।

केनोपनिषद् में भी श्रुति उस ब्रह्मतत्त्व को इसी जन्म में जान लेने के लिये जोर देती है—

"इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥" २।५

—अर्थात्, यदि इस जन्म में ब्रह्म को जान लिया तब तो ठीक है और यदि उसे इस जन्म में न जाना तब तो बड़ी भारी हानि है । बुद्धिमान् लोग उसे समस्त प्राणियों में उपलब्ध करके इस लोक से गमन कर अमर हो जाते हैं ।

(४) लोकसंग्रह या लोकहित ही जीवन का उद्देश्य—

जो ईश्वर-लाभ कर चुके हैं, उनका शरीर से कोई प्रयोजन नहीं । ब्रह्मज्ञान लाभ कर उनका जीवन सार्थक हो जाता है । पर वे जीवन का त्याग नहीं कर देते बल्कि लोकसंग्रह के लिये जीवन-धारण किये रहते हैं । तब यह लोकसंग्रह ही उनके जीवन का उद्देश्य हो जाता है । इसके लिये उन्हें विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता, क्योंकि सभी प्राणियों में ईश्वर-दर्शन कर, अपनी ही आत्मा को देखकर उन्हें प्रेम करना उनका स्वभाव हो जाता है । गीता में भगवान् कहते हैं—

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥१३।२८

—क्योंकि वह पुरुष सबमें समभाव से स्थित हुए परमेश्वर को समान देखता हुआ अपने द्वारा अपने को

नष्ट नहीं करता, अर्थात् अपने शरीर का नाश होने से अपना (आत्मा का) नाश नहीं मानता, इससे वह परम गति को प्राप्त होता है।

मुक्त पुरुष का हृदय समस्त प्राणियों के दुःख को मिटाने के लिये और उनका दुःख स्वयं भोगने के लिये आतुर हो उठता है। रन्तिदेव के शब्दों में–

को नु न स्यादुपायोऽत्र येनाहं सर्वदेहिनाम्।
अन्तः प्रविश्य सततं भवेयं दुःखभारभाक्॥

–अर्थात्, इस संसार में ऐसा क्या उपाय है, जिसके द्वारा मैं सकल दुःखी प्राणियों के शरीर में प्रवेश करके उनके दुःख स्वयं सतत भोग सकूँ?

एक बार श्रीरामकृष्ण देव के शिष्य स्वामी अखण्डानन्द जी ने कहा था, "अब देखता हूँ, मानव का परित्याग कर जो मैं हिमालय की ऊँची ऊँची श्रेणियों के मस्तक पर घूमता फिरता था, वही मैं आज मानव में ही भगवान् को देखता हूँ और समझता हूँ कि मानव-समाज की सेवा ही उनकी सेवा है। भगवान् मानो आकर मेरे कानों में बोल रहे हैं, 'अरे! इस मानव में ही तो वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषि और राम कृष्णादि अवतार हुए हैं–इस मानव में ही सब कुछ है!'"

इस प्रकार हम देखते हैं कि समस्त साधनाओं का अन्त 'सर्वत्र ब्रह्मदर्शन' में है और इस स्थिति को प्राप्त करना ही जीवन का लक्ष्य है।

●

लघुकथा

हिमालय और गंगा

डा. प्रणव कुमार बनर्जी

...सहस्राब्दियों के दुर्बोध्य मौन में डूबा हुआ था गम्भीर हिमालय।

"यह कौन सी तपस्या है ?"– मानवीय भावोन्मेष के प्रथम दिन मनुष्य का विस्मयपूर्ण प्रश्न था।

युगों ने सिर हिलाकर उत्तर दिया– "हम अनभिज्ञ हैं।"

तब मनुष्य का विस्मय क्रमशः मूक श्रद्धा में बदलता गया।...

एक दिन उसने अपनी कामनाओं के सगरपुत्रों की लक्ष्यभ्रष्ट पथचारण की व्यथा लेकर हिमालय से शान्ति की याचना की। पर हिमालय चुप था – चुप ही रहा।

परन्तु विकल मनुष्य को राह का दर्शन चाहिए था– उसके अन्तर्मन का भगीरथ अविचलित निष्ठा लेकर हिमालय के चरणों पर झुका रहा, रोता रहा।

तब, एक सुबह, जब हिमालय के शुभ्र शिखर पर दिवस की नन्ही किरणें जगमगा रही थीं, मानवमन की लक्ष्यभ्रष्ट उद्धत कामनाओं के उद्धार के लिए हिमालय की तपःपूत गम्भीरता ने एक धारा प्रदान की। उस धारा में गति थी, तृप्ति थी, पुण्य था, शान्ति थी। अन्तर्मन के लिए वह पतितपावनी हुई। उलझनों की जटा से

परम शिवत्व का स्पर्श लेकर वह उतरी। मनुष्य ने उसका नामकरण किया "गंगा"।

गंगा अपने प्रथम चरण में पतली धार के रूप में रही, मध्य में उसने अनेक धाराओं के संगम का रूप ले लिया; और अन्त में विस्तृत होकर अनेक तीर्थ रचती हुई वह अतल समुद्र-गर्भ में खो गयी।

एक महान् समर्पण में उसका विलय हो गया।

•

अपने स्नायु बलवान् बनाओ। आज हमें जिसकी आवश्यकता है वह है– लोहे के पुट्ठे और फौलाद के स्नायु। हम लोग बहुत दिन रो चुके। अब और रोने की आवश्यकता नहीं। अब अपने पैरों पर खड़े हो जाओ और 'मनुष्य' बनो। हमें ऐसे धर्म की आवश्यकता है जिससे हम मनुष्य बन सकें। हमें ऐसे सिद्धान्तों की आवश्यकता है जिससे हम मनुष्य हो सकें। हमें ऐसी सर्वांगसम्पन्न शिक्षा चाहिए जो हमें मनुष्य बना सके। और यह रही सत्य की कसौटी – जो भी तुममें शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक दुर्बलता लाये, उसे जहर की भाँति त्याग दो; उसमें जीवनशक्ति नहीं है, वह कभी सत्य नहीं हो सकता। सत्य तो बलप्रद है, वह पवित्रता-स्वरूप है, वह ज्ञानस्वरूप है। सत्य तो वह है जो शक्ति दे, जो हृदय के अन्धकार को दूर कर दे, जो हृदय में स्फूर्ति भर दे।

– स्वामी विवेकानन्द

सन्त नाग महाशय

शार्दूल कविया

एक बार रात्रि के समय श्रीरामकृष्ण परमहंस के दर्शन करने के लिए श्री गिरीशचन्द्र घोष दक्षिणेश्वर आये। परमहंस देव के कमरे में प्रवेश करके देखा–एक कोने में एक व्यक्ति अत्यन्त दीन भाव से, हाथ जोड़े बैठा है। उसका शरीर शुष्क है किन्तु नेत्र नक्षत्र की भाँति चमक रहे हैं। परमहंस देव ने कुछ देर बाद गिरीश से मुस्कराते हुए प्रश्न किया, "जानते हो, कोने में बैठा वह कौन है ?" गिरीशचन्द्र घोष ने उन्हें सामान्य व्यक्ति समझकर उस ओर ध्यान नहीं दिया था। जब परमहंस देव ने कहा कि ये दुर्गाचरण नाग हैं तो नाग महाशय बड़े दीन भाव से खड़े होकर सबको प्रणाम करने लगे। उनके मुख पर मधुर हास्य था और नेत्रों से प्रेमाश्रु झर रहे थे। उन्होंने बड़ी सरल वाणी में दीन भाव से कहा, "मैं क्या हूँ, मैं तो एक मूर्ख हूँ। मैं कुछ भी नहीं जानता।" उनकी सरलता और तन्मयता देख सब स्तब्ध रह गये। परमहंस देव बड़े स्नेह से वहुत देर तक नाग महाशय की ओर देखते रहे।

स्वामी विवेकानन्द ने एक बार कहा था, "मैं पृथ्वी के बहुत से भागों में घूम आया पर नाग महाशय के समान महापुरुष मुझे कहीं दिखायी नहीं दिये।"

पूर्व बंगाल में नारायणगंज बन्दरगाह से पश्चिम में लगभग एक मील की दूरी पर देवभोग नामक एक छोटा

सा ग्राम है। इसी ग्राम में २१ अगस्त, १८४६ ईस्वी को नाग महाशय का जन्म हुआ था। नाग महाशय का पूरा नाम दुर्गाचरण नाग था। नाग महाशय के पिता का नाम दीनदयाल और माता का नाम त्रिपुरा सुन्दरी था। बालक दुर्गाचरण नाग ने पहले नार्मल स्कूल ढाका में शिक्षा ग्रहण की और फिर वे केम्पबेल मेडिकल स्कूल कलकत्ता में पढ़े।

दूसरों की सेवा करने में नाग महाशय की बचपन से ही रुचि थी। सेवाकर्म में उन्हें विशेष आनन्द आता था। किसी को दीन-दुखी देखकर वे विचलित हो उठते थे। अब तो नाग महाशय डाक्टर बन गये थे, परन्तु किसी से फीस माँगने में उन्हें बड़ा संकोच होता था। वे अपने मुँह से फीस की रकम के सम्बन्ध में कुछ न कहते। लोग अपनी इच्छा से जितना दे देते, उतने में ही संतोष कर लेते थे। गरीब रोगी से फीस लेना तो दूर रहा, दवा का दाम भी नहीं लेते थे। रास्ते में यदि कोई निराश्रित रोगी दिख जाता तो वे उसे अपने घर पर लाकर उसकी सब व्यवस्था कर देते। एक दिन नाग महाशय किसी गरीब रोगी के घर गये, देखा उसकी स्थिति अत्यन्त शोचनीय है। टूटा छप्पर और फटे कपड़े। नाग महाशय के शरीर पर एक कीमती भागलपुरी शाल थी। उसे रोगी को दे दिया। रोगी ने लेने से मना किया पर उन्होंने एक न सुनी। एक बार एक धनवान् व्यक्ति की पत्नी हैजे से बीमार हो गयी।

नाग महाशय की चिकित्सा से वह ठीक हो गयी। वे लोग एक चाँदी के गिलास में रुपये भरकर उनको पुरस्कार स्वरूप देने लगे। नाग महाशय ने वह चाँदी का का पात्र और रुपया कुछ भी ग्रहण नहीं किया। उन लोगों ने सोचा, शायद रकम कम होने के कारण नहीं ले रहे हैं। अतः पचास रुपये और मिलाकर देने लगे। उन्होंनें लेने से साफ मना कर दिया और कहने लगे कि मेरी फीस और दवा के दाम कुल मिलाकर बीस रुपये होते होते हैं; बीस रुपये दे दें। अन्त में वे बीस रुपये लेकर चले गये। इस प्रकार उनके सारे व्यवहार विलक्षण थे।

एक बार नाग महाशय किसी विशेष काम से भोजेश्वर गये। वहाँ से कलकत्ता वापस लौटना था। उस समय भोजेश्वर से लगभग तीन कोस की दूरी पर हाँसेरकाँदी में स्टीमर स्टेशन था। वहाँ पहुँचकर नाग महाशय टिकट खरीदने जा ही रहे थे कि इतने में वहाँ तीन-चार छोटे छोटे बच्चे साथ में लिये एक भिखारिन आयी। उन बच्चों की दुर्दशा देख नाग महाशय का उदार हृदय द्रवित हो उठा। छोटे बच्चे नन्हे नन्हे हाथ फैलाकर उनसे भीख माँग रहे थे। उनकी वह करुण दशा देख नाग महाशय रो उठे। उन्होंने अपनी जेब टटोली। आठ रुपये थे। वह आठ रुपये तथा अपना कम्बल भिखारिन को सौंप वे बोले, "लो माँ, इससे अपने बच्चों की रक्षा करो।" वह भिखारिन दोनों हाथ उठाकर आशीर्वाद देती हुई चली गयी। नाग महाशय

बहुत दूर से चलकर आये थे, अत: वे स्टेशन पर बैठकर विश्राम करने लगे। फिर कलकत्ता के लिए पैदल चल पड़े। उनके पास केवल साढ़े सात आने थे। पैदल चलते चलते वे कोई उनतीस दिन में कलकत्ता पहुँचे।

नाग महाशय करुणा के सागर थे। जीव मात्र के लिए उनके हृदय में अपार दया थी। निरीह प्राणियों का दु:ख देखकर वे तिलमिला उठते थे। एक बार की घटना है, कोई ढीमर तालाब से मछलियाँ पकड़कर उनके यहाँ बेचने आया। मछलियों को टोकरी में छट-पटाते देख नाग महाशय विह्वल हो उठे। उन्होंने सारी मछलियाँ खरीद लीं और उन्हें लेकर तालाब की ओर भागे। पानी में मछलियों को फेंककर उन्होंने सुख की साँस ली। ढीमर आँख फाड़-फाड़कर यह अलौकिक दृश्य देख रहा था। टोकरी और रुपये मिलते ही वह वहाँ से भागा। फिर वह कभी उस मुहल्ले में मछली बेचने नहीं आया। नाग महाशय के घर के पीछे एक बाँस का झाड़ था। कभी कभी उसकी शाखाएँ घर के अन्दर आ जातीं, जिससे बड़ी असुविधा होती। वे उन्हें ऊँचा बाँध देते पर काटते नहीं थे। कहते, जिसे बना नहीं सकते, उसे काटने का क्या अधिकार है!

एक दिन एक भक्त नाग महाशय के घर के पूजा-मण्डप में बैठे हुए थे। मकान के चारों ओर बाँस का घेरा लगा हुआ था। भक्तों ने देखा कि पूर्व की ओर के घेरे में दीमक लग गयी है। देखते ही देखते भक्त ने

दीमक झाड़ना आरम्भ किया। बाँस पर आघात लगते ही बाँबियाँ बिखरकर फर्श पर गिर गयीं। बहुत सी दीमकें निराश्रित हो गयीं। नाग महाशय मण्डप के बरामदे में बैठे थे। यह देखकर उन्होंने कातर स्वर में कहा, "हाय, हाय, यह क्या किया आपने! यह घेरा ही इतने दिनों से इनका आधार था। आज आपने उनका घर उजाड़ दिया।" ऐसा कहते कहते उनके नेत्रों से आँसू की धारा वह चली। भक्त तो यह देखकर स्तब्ध रह गया। अन्त में नाग महाशय उन निराधार कीड़ों के पास आये और उनसे कहने लगे, "आप लोग फिर से घर बना डालिये, अब कोई भय नहीं है।" कालान्तर में वह घेरा खिसक गया पर इस डर से कि दीमकों का घर टूट जायगा, नाग महाशय ने किसी को उसको मरम्मत नहीं करने दी। इस अलौकिक पुरुष के सारे व्यवहार अलौकिक थे।

एक बार किसी ने नाग महाशय से पूछा, "क्या आपने किसी मुक्त पुरुष के दर्शन किये हैं?" उन्होंने तुरन्त उत्तर दिया, "मुक्त पुरुष की क्या बात, मैंने साक्षात् मुक्तिदाता श्रीरामकृष्ण देव के दर्शन किये हैं और उनके प्रमुख पार्षद शिवावतार स्वामी विवेकानन्द को भी देखा है।" नाग महाशय ने परमहंस देव को अपने गुरु के रूप में ग्रहण किया था। वे जीवन भर अपने गुरु के बतलाये मार्ग पर चलते रहे।

श्रीरामकृष्ण के पास बारम्बार आने जाने से नाग

महाशय के मन में अत्यन्त तीव्र वैराग्य जाग उठा। संसार-त्याग करने की अनुमति लेने वे दक्षिणेश्वर गये। पर ज्योंही उन्होंने श्रीरामकृष्ण देव के कमरे में प्रवेश किया, वे भावावेश में कह उठे, "गृहस्थाश्रम में क्या दोष है? मन भगवान् की ओर रखो। गृहस्थाश्रम कैसा है, जानते हो? –जैसे किले में रहकर लड़ाई करना! तुम राजा जनक की तरह गृहस्थाश्रम में रहो।" श्रीरामकृष्ण की आज्ञा सिर पर धारण कर नाग महाशय घर लौट आये और मृत्यु पर्यन्त गृहस्थ-धर्म का निर्वाह किया, पर पत्नी से किसी प्रकार का शारीरिक सम्बन्ध नहीं रखा था।

नाग महाशय ने अपने अहं को गुरु की सत्ता में विलीन कर दिया था। उन्होंने अपने अस्तित्व को जीते-जी मिटा दिया था। वे राजा जनक की भाँति विदेह हो गये थे। अपने लिए वे किसी को कोई कष्ट नहीं देते। रास्ता चलते समय वे कभी किसी से आगे निकल-कर नहीं चल सकते थे। वे किसी की छाया पर भी पैर नहीं रख सकते थे। दूसरों के बिस्तर पर वे बैठ नहीं सकते थे। वे सबको हाथ जोड़कर प्रणाम करते। कठोर साधना के कारण उनका अन्तर का दीनभाव उनके अंग अंग पर निखरने लगा था। नाग महाशय शक्ति के उपासक थे, पर वे कहते, "पथ या मत में क्या धरा है? किसी भी मत में एकनिष्ठा हो तो भगवान् उसे ठीक ठीक मार्ग दिखला देते हैं।" नाग महाशय में भेद-

बुद्धि नाममात्र को भी नहीं थी। शैव, शाक्त, वैष्णव, बाउल, कर्ताभजा आदि सभी सम्प्रदाय के साधकों का वे समान रूप से आदर करते थे। उनमें हिन्दू, मुसलमान या ईसाई का भेद नहीं था। उन्होंने जूते और कुरता पहनना छोड़ दिया था। वे शरीर पर एक भागलपुरी चद्दर लपेटे रहते। उनका जीवन गुरुमय हो गया था।

संसार की कोई भी घटना नाग महाशय को विचलित नहीं कर सकती थी किन्तु वे गुरुनिन्दा नहीं सुन सकते थे। एक दिन नारायणगंज से कोई व्यक्ति नाग-महाशय के श्वसुर के घर आया। वहाँ श्रीरामकृष्ण देव का प्रसंग उठने पर वह उनके प्रति कटु वाक्य कहने लगा। नाग महाशय ने बड़े विनीत भाव से उसे समझाया, पर भला वह कब मानने लगा। आखिर नाग महाशय से नहीं रहा गया। वे एकाएक खड़े हो गये। उनके नेत्रों से अग्नि बरसने लगी। शरीर में सिंह का सा पौरुष आ गया। दुष्ट को उचित दण्ड मिला। नाग महाशय उसके सिर पर तड़ातड़ जूते मारने लगे। जूतों की मार खाकर वह वहाँ से चल दिया, किन्तु नाग महाशय से कहता गया, "सँभलकर रहना, मैं इसका बदला लूँगा।" पर परिणाम दूसरा ही निकला। साधु के हाथ से जूते खाकर उस व्यक्ति की बुद्धि ठिकाने आ गयी। उसका मन हल्का हो गया और उसके जीवन में समरसता से प्लावित आनन्द का स्रोत बहने लगा। वह

नाग महाशय का भक्त बन गया। नाग महाशय भी उसे प्यार करने लगे। गिरीश घोष ने जब यह घटना सुनी तो नाग महाशय के कलकत्ता आने पर विनोदवश उनसे पूछा, "आप तो जूता पहिनते नहीं, फिर उसे मारने के लिये जूता कहाँ से लाये ?" नाग महाशय बोले, "उसका जूता लेकर उसी को मारा !"

●

भारतवर्ष में किसी प्रकार का सुधार या उन्नति की चेष्टा करने के पहले धर्मप्रचार आवश्यक है। भारत को सामाजिक अथवा राजनीतिक विचारों से प्लावित करने के पहले आवश्यक है कि उसमें आध्यात्मिक विचारों की बाढ़ ला दी जाय। सर्वप्रथम, हमारे उपनिषदों, पुराणों और अन्य सब शास्त्रों में जो अपूर्व सत्य छिपे हुए हैं, उन्हें इन सब ग्रन्थों के पन्नों से बाहर निकालकर, मठों की चहारदीवारियाँ भेदकर, वनों की शून्यता से दूर लाकर, कुछ सम्प्रदायविशेषों के हाथों से छीनकर देश में सर्वत्र बिखेर देना है, ताकि ये सत्य दावानल के समान सारे देश को चारों ओर से लपेट लें – उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक सब जगह फैल जायं – हिमालय से कन्याकुमारी और सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक सर्वत्र वे धधक उठें।

– स्वामी विवेकानन्द

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्‌चन्द्र पेंढारकर

(१) निष्कामी दयानन्द

एक छोटी-सी ज्ञान-गोष्ठी में स्वामी दयानन्द के कुछ भक्त बैठे थे। उनमें से एक ने सकुचाते हुए कहा, "स्वामीजी, जो कुछ मैं पूछना चाहता हूँ, वह आपके निजी जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है, इसलिए पूछते हुए संकोच हो रहा है।" स्वामीजी बोले, "आचार्य और शिष्य का सम्बन्ध आवरणरहित होता है। जानते नहीं, मशाल के साथ अँधेरा भी रहता ही है — भले मात्रा में नगण्य ही क्यों न हो। इसलिए निस्संकोच होकर पूछो।"

तब उस महानुभाव ने पूछा, "महाराज, आपको क्या कभी काम ने नहीं सताया?" प्रश्न सचमुच बड़ा बेढब था। यह सुन स्वामीजी ने नेत्र मींच लिए और समाहित से हो गये। फिर बोले, "प्रश्न सचमुच ही समझदारी का किया गया है। शिष्यों को गुरु से और गुरु को शिष्यों से कुछ भी छिपाकर नहीं रखना चाहिये; तभी तो शिष्य उच्च बन सकते हैं। अस्तु, काम मेरे समीप नहीं आया, न ही मैंने उसे देखा है। यदि जब-तब आया भी होगा, तो मेरे मस्तिष्क और हृदय के द्वारों को बन्द देखकर, बाहर बैठे-बैठे उकताकर, निराश हो लौट गया होगा। मेरे मस्तिष्क और हृदय को वेद-भाष्यादि के लेखन तथा शास्त्रार्थों से अवकाश ही

कहाँ मिलता है, जिससे बचे समय में मेरे हृदय तथा मस्तिष्क का द्वार बाहर को खुले और मैं इस निम्न दैहिक स्तर पर आकर यहाँ के दृश्य देखूँ, सुनूँ और उन पर ध्यान दूँ ?"

इतने में एक सज्जन ने पूछ ही लिया, "महाराज, अपराध क्षमा करें। क्या आप स्वप्न में भी कभी काम-पीड़ित नहीं हुए ?" इस पर दयानन्दजो ने मुस्कराते हुए जवाब दिया, "भाई, जब काम को मेरे अन्तर में प्रवेश करने के लिये द्वार ही नहीं दिखायी दिया, तब वह क्रीड़ा भी कैसे और किससे करता ? जहाँ तक मेरी स्मृति काम दे रही है, इस शरीर से शुक्र की एक बूँद भी बाहर नहीं गयी है।"

यह सुन सब अवाक् रह गये। भला इतना उच्च जीवन कितने मानवों से सध सकता है ?

(२) सौदागरी और फकीरी में फर्क

एक सौदागर दरवेश हो गया और उसने चेलों की जमात खड़ी कर दी। एक दिन वह पारसी सन्त आजर कैवान के पास आया और गर्व से बोला, "जब मैं अमीर था, तब मुझे चोरों का डर सताया करता था, कि कहीं वे मुझे लूट न लें, अतः मैं इसी डर से चैन की नींद नहीं सो पाता था। लेकिन अब इस फकीरी जामे में बेपर-वाह नींद सोता हूँ।"

सन्त रहस्य-भरी हँसी हँस पड़े; बोले, "सौदागरी और फकीरी में भी फर्क होता है,जानता है तू ? सौदागर

था, तब चोर तुझे लूट सकते थे और फकीर होने पर तू रिआया को लूटेगा। फकीरी दुनिया से भागकर चैन की नींद सोने के लिए नहीं है। असली फकीरी तो खुदा और उसके हर मजलूम बन्दे की फिक्र में रात-रात जागने से ही मिलती है!"

(३) साधनापथ

तीर्थाटन को जाने वाले कुछ ग्रामीण भाइयों ने महाराष्ट्र-सन्त तुकाराम से भी साथ चलने की प्रार्थना की। तुकारामजी ने अपनी असमर्थता प्रकट की। उन्होंने तीर्थयात्रियों को एक कड़वा घिया देते हुए कहा, "कृपया इसे अपने साथ ले जायें और जहाँ जहाँ भी जायें, इसे भी पवित्र जल में स्नान करा लायें।"

ग्रामीणों ने उनके गूढ़ार्थ पर गौर किये बिना ही वह कड़वा घिया ले लिया। अपने साथ उसे भी विभिन्न तीर्थों में स्नान कराते और मन्दिरों में दर्शन कराते हुए वे अपने गाँव वापस लौट आये और उन्होंने वह घिया सन्त तुकाराम को दे दिया। तुकारामजी ने सफल तीर्थयात्रा के उपलक्ष में सबको प्रीतिभोज पर आमंत्रित किया। तीर्थयात्रियों को विविध पकवान परोसे गये। तीर्थों में नहाये हुए घिया की तरकारी विशेष रूप से बनवायी गयी थी। जब उन लोगों ने उसे खाना शुरू किया तो सबने पाया कि वह तरकारी कड़वी है। उन्होंने तुकारामजी को बताया कि वह तरकारी कड़वी है। तुकारामजी को जैसे घोर आश्चर्य हुआ हो, उन्होंने कहा,

"यह तरकारी कड़वी कैसे हो सकती है। यह तो उसी घिया से बनी है, जो तीर्थस्नान कर आया है। बेशक यह तीर्थाटन से पहले कड़वा था, मगर आश्चर्य है कि तीर्थस्नान के पश्चात् भी उसमें कड़वाहट विद्यमान है।"

यह सुन उन तीर्थयात्रियों को बोध हुआ कि तीर्थ-टन की अपेक्षा प्रभु की श्रद्धापूर्वक वन्दना करना ही श्रेयस्कर है।

(४) सन्त-महिमा

तुर्कों और ईरानियों के बीच युद्ध छिड़ा हुआ था। तुर्कों की निरन्तर पराजय होती जा रही थी। एक दिन ईरान के सूफी सन्त फरीदुद्दीन अत्तार तुर्कों के हाथ पड़ गये। तुर्कों ने जासूसी का अभियोग लगाकर उन्हें फाँसी की सजा दे दी।

एक ईरानी धनाढ्य ने सन्त के प्राणों के बदले उनके वजन के बराबर हीरे-जवाहरात देने चाहे। अनेक लोग भी अपने प्राण तक देने को तैयार हो गये। किन्तु तुर्कों ने उन्हें छोड़ना मंजूर नहीं किया।

अन्त में ईरान के शाह ने तुर्क-सुलतान से प्रार्थना की, "चाहे आप हमसे राज्य ले लीजिए, किन्तु सन्त फरीदुद्दीन को छोड़ दें।" सुलतान ने साश्चर्य पूछा, "क्या आप एक आदमी के प्राणदान के लिए अपना पूरा राज्य देने को तैयार हैं, जिसे हम लड़कर भी न ले सके थे?"

शाह ने उत्तर दिया, "राज्य तो नश्वर है, किन्तु

सन्त अविनाशी होते हैं। यदि हमने सन्त खो दिया, तो ईरान सदैव के लिए कलंकित हो जायेगा।"

सुल्तान की आँखें खुल गयीं। उसने कहा, "जिस देश में सन्तों का इतना सम्मान होता हो, उसे कोई नहीं जीत सकता!" और उसने सन्त फरीदुद्दीन को मुक्त कर दिया।

(५) दैवो दुर्बलघातकः

सन्त मेंहदी अब्बासी अपने भक्तों और सम्बन्धियों की आन्तरिक पवित्रता और शुद्धता पर बड़ा ही बल देते थे। उनकी मान्यता थी कि इसी से मनुष्य का भाग्य बनता है तथा उसे सुख-समृद्धि प्राप्त होती है। किन्तु उनका एक सम्बन्धी सदैव निर्धनता की दशा में ही रहता था और इसका मेंहदी को भी पता था; किन्तु वे कहा करते, "इसमें मेरा कोई दोष नहीं, दोष तो उसके भाग्य का है।"

इस बात को सिद्ध करने के लिए एक दिन उन्होंने अपने भक्तों को आदेश दिया कि एक सोने का बटुआ एक पुल के बीचों-बीच ऐसे स्थान पर रख दिया जाय कि जहाँ से उसे बिलकुल साफ देखा जा सके। फिर उस सम्बन्धी को किसी छोटे-मोटे काम के बहाने पुल पर से गुजरने का मौका दिया जाये।

वह व्यक्ति पुल पर से होकर आ गया, मगर उसने बटुआ देखा तक नहीं। पूछने पर उसने बताया कि पुल पर उसे ऐसा एकाएक ख्याल आया कि आँखें मूँदकर

पुल पार किया जाय ताकि मालूम हो जाय कि कभी अन्धा होने पर वह उस पुल को पार कर सकेगा या नहीं, और इसलिए वह आते और जाते समय पुल पर से आँखें बन्द करके ही गुजरा था।

तब सब लोगों को भाग्य की महत्ता प्रतीत हुई।

•

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

प्राध्यापक देवेन्द्र कुमार वर्मा

(गतांक से आगे)

धर्ममहासभा का कार्य प्रतिदिन तीन बैठकों में होता था। प्रतिदिन के अध्यक्ष अलग होते थे। सभा प्रातःकाल प्रार्थना से प्रारम्भ होती थी। अध्यक्ष के आह्वान पर सब मौन धारण कर खड़े हो जाते और सभा के विशिष्ट सदस्य, "हे हमारे स्वर्गस्थ पिता . . ."वाला गान गाते थे। इसके पश्चात् प्रतिनिधियों के भाषण होते। प्रत्येक वक्ता को लगभग तीस मिनट का समय दिया जाता। पर समय की पाबन्दी लोगों के विशेष प्रिय वक्ताओं पर से हटा दी जाती। निस्सन्देह स्वामीजी उन विशेष प्रिय वक्ताओं में अग्रणी थे। जनता का उनके प्रति बढ़ता हुआ प्रबल आकर्षण ईसाई धर्म के रक्षकों के लिए सिरदर्द बन गया था। पर वे इसका उपयोग अपने फायदे के लिए करते थे। 'बोस्टन ईवनिंग ट्रांस्क्रिप्ट' ने लिखा था, "कोलम्बस के हॉल में चार हजार लोग पंखा झलते हुए दो-दो घंटे तक दूसरों का भाषण सुनते हुए केवल इसी आशा से बैठे रहते कि बाद में स्वामी विवेकानन्द पन्द्रह मिनट बोलेंगे।" स्वामीजी ने आलासिंगा को २ नवम्बर १८९३ को भेजे गये पत्र में लिखा था, "सबके लिए सामान्यतः जो आधा घंटे का समय निश्चित था, उससे भी अधिक समय मुझे

मिला करता था, क्योंकि सर्वप्रिय वक्ता अन्त में बोलने के लिए रखे जाते थे, ताकि श्रोतृमंडली प्रतीक्षा में बैठी रहे।" जैनधर्म के प्रतिनिधि वीरचंद गाँधी ने 'एरीना' नामक पत्रिका के जनवरी १८९५ के अंक में लिखा था, "धर्ममहासभा में... यह एक सत्य बात थी कि जैसे ही भारत से आये कुशल वक्ता का भाषण समाप्त होता था तो कम से कम एक-तिहाई और कभी कभी तो दो-तिहाई श्रोता बाहर जाने के लिये टूट पड़ते थे।"

निस्सन्देह वे कुशल वक्ता स्वामी विवेकानन्द ही थे। ११ अप्रैल १८९४ के 'नार्दम्पटन डेली हेराल्ड' ने लिखा था, "धर्ममहासभा में विवेकानन्द को अन्त में बोलने दिया जाता था, ताकि लोग अन्त तक बैठे रहें। जब किसी ऊमस भरे दिन कोई नीरस प्रोफेसर लम्बे समय तक बोलते रहता और लोग सैकड़ों की संख्या में हाल छोड़कर जाने लगते, तब एक छोटी सी घोषणा कि स्वामी विवेकानन्द कार्यक्रम के अन्त में एक संक्षिप्त व्याख्यान देंगे, उस विशाल जनसमूह को रोकने में कामयाब हो जाती, और हजारों लोग उस विलक्षण व्यक्ति के पन्द्रह मिनट के व्याख्यान को सुनने के लिए घंटों बैठे रहते।"

इस तरह स्वामीजी की लोकप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। उनकी अपूर्व वक्तृत्व शैली, उनका असीम ज्ञान, उनकी तीक्ष्ण मेधा, और सर्वोपरि उनके दिव्य व्यक्तित्व ने अमरीकी जनता पर अमिट प्रभाव डाला।

उनके द्वारा प्रतिपादित वेदान्त के शाश्वत विचारों ने लोगों को झकझोर दिया। जन-मानस में क्रान्ति मच गयी। पादरियों द्वारा उनके हृदयपटल पर अंकित युगों से चली आ रही 'पाप' और 'अनन्त नरक' की भयावह धारणा, वेदान्त की विमल उच्छ्वासमयी सरित्धारा के प्रवल आघात से मिटने लगी। उनमें अपूर्व आशा का सूत्रपात होने लगा। स्वामीजी के विचारों ने उनके मानस में कैसा अश्रुत परिवर्तन ला दिया था इसका उदाहरण १२ अक्तूबर १८९३ की 'ओपन कोर्ट' नामक पत्रिका में छपी हुई इस कविता में मिलता है –

"तब मैंने सुना, गैरिक वस्त्रों में सजे
उस सुन्दर संन्यासी को कहते,
कि सारी मानवता ईश्वर का ही रूप है,
सिवा उसके कुछ नहीं।
उसने कहा– तुम पापी नहीं !
तब आश्वस्त हो मन में शान्ति की धारा बही।
और सारी धर्मसभा उत्फुल्ल हो,
हर्ष विभोर हो, तुमुल जयघोष कर उठी।"

अब तक ईसाई पादरीगण भारत का गर्हित चित्रण करते रहे थे। भारत को उन्होंने एक जंगली, वर्बर और असभ्य देश के रूप में अमरीकी जनता के सम्मुख रखा था और भारतीयों को शिक्षित तथा सभ्य वनाने के नाम पर वे अमरीकी जनता से प्रचुर धनराशि प्राप्त करते रहे थे। स्वामीजी के उदात्त विचारों से अमरीकी

जनता की आँखें खुलने लगीं। एक ने उनके भाषण को सुनकर विस्मित होकर कहा था, "हम उन्हें मूर्तिपूजक कहते हैं ! और उनके देश में मिशनरी भेजते हैं ! ज्यादा अच्छा तो यह हो कि वे हमें मिशनरी भेजें।" धीरे धीरे लोगों की आस्था मिशनरियों पर से हटने लगी। मिशनरियों के लिए यह तो वज्रपात के सदृश था। इससे न केवल उनके स्वार्थ पर तुषारापात होने लगा वरन् उनके धर्म पर आ बनी। हिन्दू धर्म के प्रति जनता की बढ़ती हुई श्रद्धा को देख वे सशंकित हो उठे और ईसाई धर्म का वर्चस्व स्थापित करने के लिए जी-तोड़ प्रयत्न करने लगे।

प्रथम दस दिन का समय सब धर्मों के मूल तत्त्वों की व्याख्या के लिए निर्धारित किया गया था परन्तु उसमें ईसाई धर्म की ही विशेष रूप से चर्चाएँ हुईं। श्रीमती लुइस बर्क ने 'न्यू डिस्कवरी' में लिखा है, "यद्यपि धर्ममहासभा का उद्देश्य सब धर्मों के प्रति सहिष्णुता के भाव का प्रवर्तन था और कुछ ईसाई प्रतिनिधियों ने इस भाव का प्रचार भी किया था, तथापि सभा की कार्यवाही में यही दृढ़ धारणा परिलक्षित हुई कि एकमात्र ईसाई धर्म ही सार्वजनीन धर्म हो सकता है और उसी को विश्वधर्म की मान्यता प्रदान कराना है। इसकी प्रतिध्वनि कई वक्ताओं के निर्लज्जतापूर्ण धुआँधार भाषणों में भी हुई।"

धर्मसभा के तीसरे ही दिन लन्दन के रेवरेन्ड स्लेटर

ने हिन्दू धर्म की कटु आलोचना की। उन्होंने अपनी पुस्तक 'स्टडीज ऑफ दि उपनिषद्ज' में लिखा था कि वेदान्त जिसे भारतीय विचारधारा का सबसे श्रेष्ठ निष्कर्ष माना जाता है, जीवन के प्रति भ्रामक तथा निराशावादी दृष्टिकोण रखता है . . . तथा वह सारा का सारा दुरूह एवं मिथ्या तर्कों पर आधारित है। यहाँ धर्मसभा में भी उन्होंने वेदों की निन्दा करते हुए कहा, "यद्यपि वेद बतलाते हैं कि मानवता की सारी आध्यात्मिक पिपासा तथा आकांक्षाएँ एक ही हैं तथापि हमें एक भी ऐसा दृष्टान्त नहीं मिलता जो प्रार्थना का दैवी उत्तर दे तथा जो दैवी क्षमा की घोषणा करे। . . .वेदों में विचारों की अनुभूति नहीं है। एकमात्र बाइबिल ही दैवी आश्वासन की पुस्तक है। वह 'ईश्वर की कृपारूपी अमूल्य रत्नों' को प्रकट करती है – इसीलिए वह अप्रतिम है. . . ।"

चौथे दिन बोस्टन के रेवरेन्ड जोसेफ कुक ने अपने भाषण के दौरान ईसाई धर्म की महानता बतलाते हुए कहा, "यह स्पष्ट है कि हम अपनी अन्तरात्मा, ईश्वर तथा अपने किये गये पापों से नहीं बच सकते। और यह ध्रुव सत्य है कि ईसाई धर्म के सिवाय सारे विश्व में ऐसा कोई धर्म नहीं जो अपने स्वयं में, अपने ईश्वर में तथा अपने पापों में सामंजस्य बिठाते हुए आत्मा की शान्ति का मार्ग बतलाता हो।"

पाँचवें दिन ईसाई पादरियों ने प्राच्य धर्मों की

आलोचनाएँ करते हुए ईसाई धर्म की श्रेष्ठता स्थापित करने का प्रयत्न किया। प्राच्य प्रतिनिधियों ने भी, जिनमें जैन, बौद्ध तथा ब्राह्मसमाजी थे, अपने अपने धर्म को सर्वोपरि घोषित करने का प्रयास किया। धर्मों पर परस्पर आक्षेप किये जाने लगे। धर्मसभा ने एक तुमुल रणक्षेत्र का रूप धारण कर लिया। अन्तिम वक्ता स्वामीजी थे। उन्होंने अपने संक्षिप्त भाषण में कहा–

मैं आप लोगों को एक छोटी सी कहानी सुनाता हूँ। अभी जिन वक्ता महोदय ने व्याख्यान समाप्त किया है, उनके इस वचन को आप लोगों ने सुना है कि 'आओ, हम लोग एक दूसरे को बुरा कहना बन्द कर दें' और उन्हें इस बात का बड़ा खेद है कि लोगों में सदा इतना मतभेद क्यों रहता है।

परन्तु मैं समझता हूँ कि जो कहानी मैं कहने वाला हूँ उससे आप लोगों को इस विसंवाद का कारण स्पष्ट हो जायगा। एक कुएँ में बहुत समय से एक मेंढक रहता था। वह वहीं पैदा हुआ था और वहीं उसका पालन-पोषण हुआ, पर फिर भी वह मेंढक छोटा ही था। हाँ, आज के क्रमविकासवादी (Evolutionists) उस समय वहाँ न थे जो यह बतलाते कि उस मेंढक की आँखें थीं अथवा नहीं, पर यहाँ कहानी के लिए यह मान लेना चाहिए कि उसके आँखें थीं और वह प्रतिदिन ऐसे परि-श्रम के साथ जल के क्षुद्र जन्तुओं और कीड़ों को खाकर जल को शुद्ध रखता था कि उतना परिश्रम हमारे

आधुनिक कीटतत्त्ववादियों (Bacteriologists) को यशस्वी बना दे ! खैर इस प्रकार धीरे धीरे यह मेंढक उसी कुएँ में रहते रहते मोटा-ताजा हो गया। होते होते एक दिन एक दूसरा मेंढक जो समुद्र में रहता था, वहाँ आया और कुएँ में गिर पड़ा।

"तुम कहाँ से आये हो ?" – कूपमण्डूक ने पूछा।

"मैं समुद्र से आया हूँ।"

"समुद्र ! भला कितना बड़ा है वह ? क्या वह भी इतना ही बड़ा है जितना मेरा यह कुआँ ?" और यह कहते हुए उसने कुएँ में एक किनारे से दूसरे किनारे तक छलाँग मारी।

समुद्र वाले मेंढक ने कहा, "मेरे मित्र! भला समुद्र की उपमा इस छोटे से कुएँ से किस प्रकार दे सकते हो ?"

तब कुएँ वाले मेंढक ने एक दूसरी छलाँग मारी और पूछा, "तो क्या इतना बड़ा है ?"

समुद्र वाले मेंढक ने कहा, "तुम कैसी बेवकूफी की बात कर रहे हो ! क्या समुद्र की तुलना कुएँ से हो सकती है ?"

अब तो कुएँ वाले मेंढक ने चिढ़कर कहा, "मेरे कुएँ से बढ़कर और कुछ हो ही नहीं सकता। संसार में इससे बड़ा कुछ नहीं है ! झूठा कहीं का ! अरे, इसे पकड़कर बाहर निकाल दो !"

तो भाइयो, ऐसा संकीर्ण भाव ही हमारे कलह का

कारण है। मैं हिन्दू हूँ। मैं अपने छोटे से कुएँ में बैठा यही समझता हूँ कि मेरा कुआँ ही सम्पूर्ण संसार है। ईसाई लोग भी अपने क्षुद्र कुएँ में बैठे हुए यही समझते हैं कि सारा संसार उसी कुएँ में है और मुसलमान भी अपने तुच्छ कुएँ में बैठे हुए उसी को सारा ब्रह्माण्ड मानते हैं। मैं आप सब अमेरिकावालों को धन्य कहता हूँ, क्योंकि आप हम लोगों के इन छोटे छोटे संसारों की क्षुद्र सीमाओं को तोड़ने का महान् प्रयत्न कर रहे हैं। मैं आशा करता हूं कि भविष्य में परमात्मा आपके इस उद्योग में सहायता देकर आपका मनोरथ पूर्ण करेंगे।

उनके इस भाषण ने सबको शान्त कर दिया। जनता मुग्ध हो गयी, उनके भाषण को सुनकर। पर मिशनरीगण चुप बैठनेवाले न थे। दिन पर दिन उनके आक्षेप कटु होते गये। प्राच्य धर्मों की उन्होंने खुले आम आलोचना शुरू कर दी। विशेषकर हिन्दू धर्म के विरुद्ध तो जेहाद ही बोल दिया। वातावरण में कटुता बढ़ती गयी। महासभा के नवें दिन अर्थात् १९ सितम्बर के प्रातःकाल यह कटुता चरम सीमा पर पहुँच गयी। जोसेफ कुक प्राच्य धर्मों की कड़ी निन्दा करते रहे। उन्होंने कहा, "यह सोचना कि विश्व की रचना ही नहीं हुई, अत्यन्त मूर्खतापूर्ण बात है, जिसे क्षमा नहीं किया जा सकता।" इसके जवाब में प्राच्य प्रतिनिधियों ने कहा, "यह सोचना कि विश्व का प्रारम्भ है, अत्यन्त हास्यास्पद और भ्रमात्मक धारणा है।" बिशप जे. पी. न्यूमेन

ने वाक्-बाण छोड़ते हुए कहा कि पूर्व वालों ने मिशनरियों के प्रति भ्रान्त कथन करके संयुक्त राष्ट्र के समस्त ईसाइयों का अपमान किया है। पूर्व देशीय वक्ताओं ने उत्तेजक शान्ति और उद्धत मुस्कान लिए हुए प्रत्युत्तर में कहा कि इस तरह कहना विशप की अज्ञानता है। और भी कई ईसाई वक्ता आये। उन्होंने प्राच्य धर्मों के विरुद्ध जहर उगलना शुरू किया। शिष्टाचार का जो महीन परदा था, वह पूर्णरूपेण दूर हो गया। उन लोगों ने खुले शब्दों में प्राच्य धर्मों को निम्न, बर्बर, मूर्तिपूजक और असभ्य घोषित करते हुए यह दलील दी कि ईसाई धर्म ही सार्वजनीन धर्म होने का अधिकारी है, अतः सभी प्रतिनिधियों को उसकी श्रेष्ठता स्वीकार करनी चाहिए।

अब तक स्वामीजी ने ईसाई मिशनरियों की अनवरत कटु आलोचनाओं और उनके द्वारा प्रचारित भ्रान्त धारणाओं का प्रतिवाद नहीं किया था। उन लोगों की कटूक्तियों की परवाह न करते हुए वे अपने धर्म के व्यापक एवं शाश्वत तत्त्वों के प्रतिपादन में लगे थे तथा मानव-जीवन के उस उच्च आदर्श की ओर अध्यात्म-पिपासु अमरीकी जनता को उद्‌बुद्ध करते रहे थे। पर अब उन्हें मिशनरियों का यह ओछा व्यवहार सह्य नहीं हुआ। प्राच्य धर्मों की असत्य और भ्रामक आलोचना अब और नहीं सही गयी और उन्होंने गुरुगम्भीर स्वर में प्रताड़ना देते हुए कहा, "हम पूर्व से आने वाले लोग इतने दिन यहाँ पर बैठे और हमें संरक्षणात्मक ढंग से बताया

गया कि हमें ईसाई धर्म स्वीकार कर लेना चाहिए, क्योंकि ईसाई राष्ट्र सर्वाधिक सम्पन्न हैं। हम अपने चारों ओर देखते हैं, तो पाते हैं कि इँग्लैण्ड दुनिया में सबसे अधिक सम्पन्न ईसाई देश है, जिसके पैर २५ करोड़ एशियावासियों की गरदन को खूँद रहे हैं। हम इतिहास की ओर मुड़कर देखते हैं तो पता चलता है कि ईसाई-योरोप की समृद्धि का प्रारम्भ स्पेन से हुआ। स्पेन की समृद्धि का श्रीगणेश मैक्सिको के ऊपर किये गये आक्रमण से हुआ। ईसाइयत अपने भाइयों का गला काटकर अपनी समृद्धि प्राप्त करती रही है। पर हिन्दू इस कीमत पर अपनी समृद्धि नहीं चाहेंगे।" (क्रमशः)

●

जिन दत्त सूरीश्वर

डा. अशोक कुमार बोरदिया

यदि आप कभी जैन धर्म के श्वेताम्बर मंदिर-मार्गी समुदाय के किसी देवालय को देखने जायें तो आपको समीप ही एक दूसरे धार्मिक स्थान के दर्शन का अवसर प्राप्त होगा जिसे भक्त वृन्द "दादावाड़ी" के नाम से पुकारते हैं। यहाँ पर आप जिन महान् जैन सन्त की प्रतिमा का, चरण चिह्न अथवा चित्र का अवलोकन करेंगे वे "दादा गुरुदेव जिनदत्त सूरीश्वर जी" के नाम से विख्यात हैं। यह जैन समुदाय चार "दादा गुरुओं" को पूजता है, जिनमें जिनदत्त सूरी जी प्रथम हैं।

जिनदत्त सूरी का जन्म गुजरात के धवलक्का ग्राम में विक्रम संवत् ११३२ में हुआ था। पिता वाछिग सामंत्री एवं माता वाहडदेवी ने बालक का नाम सोमचन्द्र रखा। संवत् ११४१ में नौ वर्ष की अल्प आयु में ही बालक ने संयम धारण किया (अर्थात् संन्यास-दीक्षा ली) और गुरु श्री जिनवल्लभ सूरी जी के मार्गदर्शन में साधना पथ पर अग्रसर हुआ। जैन धर्म में लक्ष्यप्राप्ति के लिये एक विशिष्ट साधना पद्धति का विधान है। इसके अनुसार प्रत्येक साधु को पाँच महाव्रतों का कठोरता से पालन करने के अतिरिक्त इन्द्रिय संयम का अभ्यास भी करना पड़ता है। पाँच महाव्रतों में सहायक उपनियमों को गुप्ति और समिति के नाम से पुकारा जाता है। इसके

अलावा जैन शास्त्र छः प्रकार के बाह्यिक (शारीरिक) एवं छः आभ्यान्तरिक (मानसिक) तपों का भी उपदेश करते हैं। छः बाह्यिक तप हैं– अनशन, ऊनोदरी, (आहारादि में कमी करना), भिक्षाचरी, काम क्लेश, रसपरित्याग (रसनेन्द्रिय निग्रह) एवं प्रतिसंलीनता (अशुभ मनोयोग का निग्रह करना)। आन्तरिक तपों में प्रायश्चित, विनय, वैयावृत (सेवा), स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग (ममत्व-त्याग) की गणना है। जिनदत्त सूरी जी ने संयम एवं इन विभिन्न तपस्याओं को अपनी साधनाओं का आधार बनाया। जब वे पंजाब में साधना-रत थे तब उन्हें विचलित करने के लिये पंजाब की पाँच नदियों के अधिष्ठाता पाँच पीरों ने कई प्रकार से उन्हें डराया धमकाया और उपद्रव मचाया, किन्तु वे अविच-लित ही रहे। उनके दृढ़ विश्वास, अदम्य इच्छा शक्ति एवं मनोबल के द्वारा परास्त होकर वे पाँचों पीर उनके शिष्य बन गये। इसी प्रकार उपद्रव के लिये प्रस्तुत बावन वीरों को भी उन्होंने हतप्रभ करके अपना अनु-गामी बनाया। इस प्रकार की विभिन्न बाहरी एवं मानसिक बाधाओं को जीत कर अन्त में जिनदत्त सूरी जी को लक्ष्य की प्राप्ति हुई।

अपने साधनाकाल में जिनदत्त सूरी जी ने परम्परा से प्रचलित इस बात को सुन रखा था कि वज्र स्वामी नामक एक महान सन्त ने विभिन्न आध्यात्मिक विद्याओं से युक्त एक ग्रन्थ चित्तौड़गढ़ के वज्रस्तम्भ में सुरक्षित

रख छोड़ा है। ग्रन्थकार ने योग्य शिष्य की अनुपलब्धि के कारण ऐसा किया था। साधना की समाप्ति पर सूरी जी ने सबसे पहले इस ग्रन्थ को प्राप्त करने का प्रयास किया। वे अपने योग बल से इसे प्राप्त करने और इसके ज्ञान को आत्मसात् करने में सफल हुए। संवत् ११६९ वि. में वे आचार्य पद पर वे आरूढ़ हुए और धर्म प्रचार में तत्पर हुए।

जैन धर्म में सिद्धियों एवं चमत्कारों की अपेक्षा चरित्र की शुद्धता को अधिक महत्व दिया जाता है। सभी प्रमुख धर्म सिद्धियों को मोक्ष प्राप्ति के चरम लक्ष्य में बाधा ही मानते हैं, तथापि इनकी उपलब्धि साधक को साधना करते समय अपने आप ही हो जाती है। सन्त महापुरुष इनका उपयोग प्रायः नहीं करते। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि समाज में धर्म के प्रचार के लिये एवं जनता को धर्म की ओर आकृष्ट करने के लिये वे कभी कभी अपनी दैवी शक्तियों का उपयोग कर लिया करते हैं। उनके अनुयायी लोग भी उनकी उच्च मानसिक अवस्था को समझने में असमर्थ हो उनकी महानता का अंकन इन सिद्धियों द्वारा ही करते हैं। यही कारण है कि विभिन्न धर्मों के सन्तों के जीवन में हम प्रायः चमत्कारिक घटनाओं का वर्णन पाते हैं। जिनदत्त सूरी जी की जीवनी भी इसी प्रकार की घटनाओं से ओतप्रोत है।

एक बार ये प्रथम दादागुरुदेव धर्मोपदेश करते-करते

अचानक ध्यानस्थ हो गये। बाद से पूछने पर उन्होंने बताया कि "चौसठ योगनियाँ आज विघ्न पैदा करने के लिये आ रही हैं। तुम लोग उनके बैठने के लिये चौसठ पट्टे बिछा दो।" तदन्तर उन्होंने अपनी शक्ति के द्वारा उन पट्टों को अभिमंत्रित कर दिया। फलस्वरूप जब योगिनियाँ आकर उन पर बैठीं तो पट्टों से चिपक गयीं। अपनी शक्ति से उठने में असमर्थता देखकर उनसे क्षमा-याचना करने लगीं और अन्त में उनकी आज्ञा वाहिकाएँ बन गयीं। सूरत नगर में सूरीश्वर जी ने एक युवक को जिसने नेत्र ज्योति खोदी थी, पुनः दृष्टि प्रदान की। इसी प्रकार आपने सर्पदंश से अचेत एक सुलतान-पुत्र में स्वशक्ति द्वारा विष का विनाश कर पुनः प्राणों का संचार किया।

कुछ दृष्टान्त ऐसे भी मिलते हैं जिनसे यह पता चलता है कि सूरीश्वर जी को परकाया प्रवेश की विद्या प्राप्त थी। बड़नगर में जैन धर्म की बढ़ती हुई महिमा से कुपित होकर कतिपय तुच्छ भिन्नधर्मावलम्बियों ने जिन-दत्त जी एवं जैन धर्म की निन्दा करने के लिये एक मरी गाय को जैन मन्दिर के सम्मुख लाकर डाल दिया। यह बात जब गुरुदेव को मालूम हुई तो वे शीघ्र ही परकाया प्रवेश विद्या के द्वारा गाय के मृत शरीर में प्रवेश कर गये और उसमें जीवन संचार कर उसे मन्दिर के सामने से हटा ले गये। दूर जाकर उन्होंने शक्ति का उपशम कर लिया और गाय की देह को त्याग दिया।

इन चमत्कारों का विश्लेषण करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिनदत्त सूरी जी ने अपनी सिद्धियों का उपयोग जन्म-व्याधि-जरा-मरण से त्रस्त मानव जाति के प्रति करुणा प्रेरित होकर जन कल्याण के लिये ही किया था। इनकी सहायता से उन्होंने अपने जीवनकाल में कई लोगों के शारीरिक एवं मानसिक कष्टों को दूर किया। फलस्वरूप बहुतों ने आपका शिष्यत्व ग्रहण किया। चौहानों के प्रतापी राजा, अजमेर के सिंहोजी आपके अनन्य भक्त थे एवं त्रिभुवनगिरि के शासक राजा कुमारपाल ने आपसे प्रभावित होकर अपने आश्रितों सहित जैन धर्म को अंगीकार किया था। इसी प्रकार, कहा जाता है कि एक लाख तीस हजार व्यक्तियों ने भी आपसे अनुप्राणित होकर जैन धर्म में दीक्षा ली थी। इन नव-जैनियों को विभाजित कर आपने ५७ गोत्रों की स्थापना की और इस प्रकार जैन धर्म का विस्तार किया। इसके अतिरिक्त, चर्चरी प्रकरण आदि अनेक स्वतंत्र ग्रन्थों की रचना भी आपने की तथा कई गहन विषय प्रतिपादक ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखीं। संवत् १२११ में अजमेर में आपने देह त्याग किया।

जिनदत्त सूरीश्वर जी को जैन समुदाय उस समय का सबसे महान् सन्त मानता है। निम्नांकित घटना इस तथ्य की पुष्टि करने के साथ ही उनकी विनम्रता एवं अहंकारहीनता को प्रकट करती है। अंबड नामक व्यक्ति ने यह जानने के लिये कि युगप्रधान (युगाचार्य) कौन

है और किस प्रकार उनके दर्शन हो सकते हैं, गिरनार पर्वत पर अष्टमतप का अनुष्ठान किया। प्रसन्न हो अम्बा देवी प्रकट हो गयी और उसकी हथेली पर कुछ लिख-कर उन्होंने कहा कि इसे पढ़ सकने में जिसको समर्थ पाओ उसे ही युगप्रधान समझना। बहुत समय तक इधर उधर भटकने के पश्चात् अंबड अन्त में जिनदत्त सूरी के के पास आया और सूरीजी उसकी हथेली पर अंकित शब्दों को पढ़ने में समर्थ हो गये। किन्तु चूंकि उक्त शब्दों में देवी ने सूरीजी की ही प्रशंसा की थी इसलिए वे अपने मुख से उन शब्दों का उच्चारण न कर सके। उन्होंने अंबड के हाथ पर मंत्रयुक्त चन्दन लगा दिया जिससे उनका शिष्य पढ़ने में समर्थ हो सका और उसी ने अंबड को उन शब्दों का अर्थ बताया।

यथार्थ सद्गुरु सदा अपने शिष्यों एवं अनुयायियों की सुरक्षा का ध्यान रखते हैं। वे किस अव्यक्त रूप से भक्त की आध्यत्मिक उन्नति के लिये प्रयत्नशील रहते हैं, यह जानना तो प्रायः कठिन होता है, किन्तु सन्तों के जीवन में ऐसे प्रसंग भी दृष्टिगोचर होते हैं जब वे अपने आश्रितों की शारीरिक रूप से भी रक्षा करते हैं। निम्नांकित घटना सूरीश्वर जी की भक्तवत्सलता एवं धर्मरक्षा तत्परता की द्योतक है। अजमेर में एक बार सूरीश्वर जी धर्मोपदेश दे रहे थे कि अचानक वर्षा का भीषण प्रकोप प्रारम्भ हो गया। बादलों की भीषण गड़गड़ाहट और बिजली के उग्र रूप ने उपस्थित भक्त

मंडली को भयभीत करने के साथ ही धार्मिक स्वाध्याय में व्यवधान खड़ा कर दिया। कहा जाता है कि गुरुदेव ने बिजली को अपने भिक्षापात्र के नीचे स्तम्भित कर सभी को रक्षा की एवं भय का निवारण किया। भक्तों को अभय प्रदान करने का गुण दूसरे दादा गुरुदेव के जीवन में भी पाया जाता है। एक बार दूसरे गुरुदेव ने पृथ्वी पर शिष्यमंडली के चारों ओर रेखा खींच कर उन्हें हिंसक दस्युओं से बचाया था। किंवदन्ती है कि डाकू भक्तमंडली को देखने में असमर्थ रहे और दूसरी दिशा में चले गये। यह भी संभव है कि अहिंसा-महाव्रत में प्रतिष्ठित सन्त के सान्निध्य में आने के कारण हिंसक दस्युओं के हृदय में भी प्रेम का संचार हुआ होगा।

प्रथम दादा गुरुदेव जिनदत्त सूरीश्वर जी के जिन गुणों के कारण विभिन्न वर्गों के लोग उनका शिष्यत्व स्वीकार करते थे, वह थे उनका उदात्त चरित्र, दैवी उपलब्धियाँ और विद्वता। अहिंसा ही उनके उपदेशों का सार है। अहिंसा का अर्थ है– मन, वचन और काया से क्षुद्र कीड़े से लेकर पूर्ण विकसित मनुष्य तक किसी को भी शारीरिक अथवा मानसिक रूप से कष्ट नहीं पहुँचाना। प्रारम्भिक अवस्था में वे नवदीक्षितों से केवल मांस, मदिरा एवं अन्य कुकर्मों के त्याग की ही अपेक्षा रखते थे। तत्पश्चात् शिष्य अपनी क्षमता एवं योग्यता के अनुसार अहिंसा के उत्तरोत्तर कठिन नियमों और अंगों के पालन में तत्पर होता था। जितने अधिक लोग

अहिंसा धर्म का पालन करेंगे, समाज में उतना ही अधिक प्रेम, सहिष्णुता और सद्भावना का संचार होगा और इस प्रकार समाज अधिक शान्त एवं सुखी होगा। गुरु-देव का जीवन इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि "अहिंसा परमोधर्मः" का सिद्धान्त मात्र शाब्दिक नहीं है, वरन् जीवन में उसका आचरण किया जा सकता है।

•

परिग्रह

परिग्रह का मतलब संचय या इकट्ठा करना है। सत्य-शोधक अहिंसक परिग्रह नहीं कर सकता।

जो विचार हमें ईश्वर से विमुख रखते हैं, या ईश्वर की ओर नहीं ले जाते, वे सब परिग्रह में शुमार होते हैं और इसलिये वे त्याज्य हैं।

परमात्मा परिग्रह नहीं करता, वह अपने लिये आवश्यक वस्तु रोज-रोज पैदा करता है।

सच्ची संस्कृति – सुधार और सभ्यता का लक्षण परिग्रह की वृद्धि नहीं, बल्कि विचार और इच्छापूर्वक उसकी कमी है। जैसे-जैसे परिग्रह कम करते हैं वैसे-वेसे सच्चा सुख और संतोष बढ़ता है। सेवा क्षमता बढ़ती है।

केवल सत्य की आत्मा की दृष्टि से विचारें तो शरीर भी परिग्रह है। भोगेच्छा के कारण हमने शरीर का आवरण खड़ा किया है, और उसे टिकाये रखते हैं।

– महात्मा गांधी

रामकृष्ण-विवेकानन्द-आन्दोलन में नारी का अवदान

कु. अजिता चटर्जी

मानव-इतिहास में वर्तमान युग अभिनव है। वैज्ञानिक उन्नति के फलस्वरूप पृथ्वी के समस्त लोग एक दूसरे के अत्यन्त निकट आ गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न जातियाँ मानो एक ही गृह के विभिन्न कमरों में अवस्थान कर रही हैं। अब वह दिन भी दूर नहीं जब चन्द्रलोक के साथ हमारा सम्पर्क जुड़ जायेगा। वर्तमान परिवेश में, कहना न होगा, सांस्कृतिक आदान-प्रदान आवश्यक ही नहीं, वरन् अनिवार्य है।

युग-प्रयोजन के अनुरूप परस्पर आदान-प्रदान के माध्यम से जगत् में जो नूतन अध्याय खुल रहा है उसकी भूमिका को सफल करने में नारी समाज का दान अभूतपूर्व है। हमेशा से नारी न केवल किसी जातीय संस्कृति या इतिहास की रक्षा करती आयी है बल्कि समय समय पर उसे पुनरुज्जीवित तथा पुनः प्रतिष्ठित करने में सक्रिय भाग भी लेती रही है।

पाश्चात्य वस्तुतांत्रिक सभ्यता के युग में प्राच्य में आध्यात्मिकता की प्रतिष्ठा करने के उद्देश्य से तथा मानव-रचित भिन्न भिन्न प्रकार की भेद-भावनाओं को दूर करने के लिए युगावतार श्रीरामकृष्ण का अविर्भाव होता है। स्वामी विवेकानन्द ने यह भलीभाँति जान लिया था कि श्रीरामकृष्ण 'अतीत के अवतारों के पुनः

संस्कृत नवप्रकाश' हैं, वे 'तीस करोड़ भारतवासियों की दो सहस्र वर्ष की अध्यात्म-साधना की घनीभूत मूर्ति हैं। श्रीरामकृष्ण के जीवन-आलोक में उन्हें अमृत का सन्धान मिला था। उन्होंने उस अमृत का पान किया था तथा जगत् में इस अमृत का वितरण करने के लिए पागल से हो गये थे।

श्रीरामकृष्ण एवं विवेकानन्द के माध्यम से यह जो युगान्तरकारी नवधर्म प्रकाशित होता है, इस अनादि-अनन्त सनातन धर्म का जो युगोपयोगी नव संस्करण प्रकट होता है, उसकी स्थापना, प्रचार एवं प्रतिष्ठा में नारी जाति ने उल्लेखनीय भाग लिया है। प्रस्तुत लेख में इसी को दर्शाने का विनम्र प्रयास किया जा रहा है।

यह सर्वविदित ही है कि समन्वयाचार्य श्रीरामकृष्ण देव की साधनाभूमि दक्षिणेश्वर थी। इसकी प्रतिष्ठा रानी रासमणि ने की थी और इसप्रकार उन्होंने श्रीरामकृष्ण के युगकार्य के लिये व्यापक भूमिका प्रस्तुत कर दी थी। यद्यपि यह सत्य है कि मन्दिर में पुजारी का पद ग्रहण कर श्रीरामकृष्ण ने ढीमर कुल में उत्पन्न रानी रासमणि को एक अभूतपूर्व गरिमा प्रदान की थी, पर इसके साथ ही क्या यह भी सत्य नहीं कि रानी रासमणि ने दक्षिणेश्वर का निर्माण ईश्वरीय प्रेरणा से किया था? क्या यह सच नहीं कि उपयुक्त पुजारी पद के लिए, जिससे उनका मातृमन्दिर बहुजन हिताय नियोजित हो सके, रानी ने कठिन तपस्याएँ की थी? उनके

जीवन का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि वे त्रिसन्ध्या स्नान करतीं एवं भूमिशयन करते हुए सदैव इष्ट के ध्यान में लीन रहा करतीं। ऐसा प्रतीत होता है कि शायद रानी की कठिन तपस्या ही श्रीरामकृष्ण देव को दक्षिणेश्वर खींच लायी थी।

जब दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण माता काली के दर्शन के लिए विरह-व्यथा की तीव्रता में पागलों की भाँति रोते रहते या जमीन पर पड़े रहते, तो दूसरे लोग उनके कार्यों में बाधा डालने की कोशिश करते। पर हम देखते हैं कि ऐसे अवसरों पर रानी रासमणि उनकी रक्षा किया करती थीं। ऐसे भी कई दृष्टांत मिलते हैं जिनमें श्रीरामकृष्ण रानी के साथ भी असंलग्न व्यवहार करते हैं पर देवीस्वरूपिणी रानी अपने पुजारी के हृदय की गहरी आध्यात्मिकता तथा उनके देवोपम उन्नत चरित्र को समझती हैं इसलिये असन्तुष्ट होने के स्थान पर श्रीरामकृष्ण को यथाशक्ति सहायता करती हुई ही दिखती हैं। रानी रासमणि के दामाद मथुरा बाबू तो श्रीरामकृष्ण के रसद्दार ही थे और 'बाबा' के लिये मुक्त हस्त से खर्च करते थे। पर क्या वे रानी के अनुमोदन के बिना ऐसा कर सकते थे?

भैरवी ब्राह्मणी योगेश्वरी देवी स्वतः प्रवृत्त होकर श्रीरामकृष्ण देव का गुरुपद ग्रहण करती हैं। जब लोग श्रीरामकृष्ण के आचरणों को देखकर उन्हें पागल कह परिहास करते थे तब कभी कभी उनके भी मन में संदेह

पनपता था कि कहीं वे सचमुच ही पागल तो नहीं हो गये हैं ? और इसकी मीमांसा के लिए एक दिन वे व्याकुल हो अपनी अनुभूतियोंका वर्णन करते हुए भैरवी ब्राह्मणी से पूछते हैं, "माँ ! सच-सच बताओ, मुझे जो ऐसी अनुभूति होती है वह केवल मन का विक्षेप तो नहीं ? केवल पागलपन तो नहीं ?" ऐसे समय ब्राह्मणी उन्हें सान्त्वना देते हुए कहती हैं, "नहीं बाबा! यह पागलपन नहीं है। यह महाभाव है।" भैरवी ब्राह्मणी ने शास्त्र वाक्यों का उदाहरण देकर अनेक तर्कों द्वारा पण्डित समाज के समक्ष सबसे पहिली बार श्रीरामकृष्ण को अवतार प्रमाणित किया था। इस तरह इस महीयसी नारी के द्वारा ही वर्तमान युगावतार श्रीरामकृष्ण देव का प्रचार सम्पादित हुआ था।

श्रीरामकृष्ण के जीवन में से बारह वर्ष व्यापी तीव्र साधना की आँधी बह चुकी है। ऐसे समय उनकी सह-धर्मिणी सारदादेवी, लज्जाशीला कुलवधू होते हुए भी बिना निमंत्रण के लगभग साठ मील की दूरी पैदल तय कर अपनी भूमिका निभाने दक्षिणेश्वर आ उपस्थित होती हैं। श्रीरामकृष्ण उन्हें अचानक देखकर कुछ विच-लित से हो जाते हैं और डरते हुए से प्रश्न करते हैं, "क्या तुम मुझे संसार में खींचने के उद्देश्य से आयी हो?" पर सारदा देवी उनके भय का निवारण करते हुए कहती हैं, "नहीं, संसार में मैं तुम्हें क्यों खींचने चली; मैं तो साधनापथ में तुम्हें सहायता पहुँचाने आयी हूँ।"

ठाकुर श्रीरामकृष्ण देव सारदादेवी की पूजा जगत्-जननी के रूप में करते हैं। पर मन में प्रश्न उदित होता है– किनकी साधना बड़ी है ? जिन्होंने पूजा की उनकी, या जिन्होंने पूजा ग्रहण की उनकी ? हमें तो यही लगता है कि जिन्होंने पूजा ग्रहण की उनकी साधना पूजा करने वाले की साधना से कहीं बढ़कर है। ठाकुर को अपने बारह वर्षों की कठोर साधना से उपलब्ध फल को सुरक्षित रखने के लिये माता के चरणों से अधिक पवित्र स्थान और कौन सा मिल सकता था ? तभी तो अमावस्या की उस गम्भीर रात्रि में उन्होंने साधना द्वारा लब्ध सम्पूर्ण फल माता के चरणों में समर्पित कर दिया।

जिस तरह विभिन्न नारी-चरित्रों ने स्वतः प्रवृत्त हो युगधर्म-प्रवर्तक श्रीरामकृष्ण देव के कार्यों में सहायता की थी, उसी तरह हम देखते हैं कि परवर्ती काल में उनके सन्देशवाहक स्वामी विवेकानन्द को भी नारी-चरित्रों से ही अधिक सहायता मिली थी। यदि यह कहें कि नारियों के सहयोग से ही स्वामीजी अपने कार्य में इतने अधिक सफल हो सके थे, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

शिकागो आने पर जब स्वामी विवेकानन्द को यह पता चला कि धर्ममहासभा के प्रारम्भ होने में अभी तीन महीने का समय है, तो शिकागो के भयंकर खर्च से घबराकर वे बोस्टन की ओर प्रयाण करते हैं। तब तो वे अपरिचित और अज्ञात संन्यासी हैं। सोच नहीं पाते कि उनका बीच का समय कैसे व्यतीत किया जाय।

सवाल है पैसे का, और फिर एक जबरदस्त सवाल यह हैं कि धर्ममहासभा में प्रतिनिधि की हैसियत से नाम देने की तारीख भी बीत चुकी है। इन परेशानियों के बीच जब वे बोस्टन की यात्रा कर रहे थे तो ट्रेन में उनका परिचय श्रीमती सेनबोर्न से होता है। यह महिला उन्हें सादर आमंत्रित कर अपने घर ले जाती हैं और स्वामीजी का बीच का समय वहीं बीतता है। फिर वहीं स्वामीजी का परिचय हार्वर्ड विश्वविद्यालय के अध्यापक डा.राइट से होता है। और यह तो सबको विदित ही है कि डा. राइट ने स्वामीजी को धर्ममहासभा में भाग लेने हेतु सभी प्रकार की सहायता प्रदत्त की थी।

पर भाग्य की विडम्बना तो देखिये। वापसी यात्रा में शिकागो स्टेशन पर उतरकर जब स्वामीजी ने अपनी जेबों को टटोला तब डा. राइट द्वारा प्रदत्त परिचय पत्र वहाँ से गायब मिला। धर्ममहासभा में सम्मिलित होने की उनकी सारी आशाएँ धूमिल पड़ जाती हैं और वे एक जगह किंकर्त्तव्यविमूढ़ से बैठ जाते हैं।

और तभी एक अभिजातकुल की महिला, जिनके चेहरे से ममता टपक रही थी, उनके सामने आती हैं और उन्हें आदरसहित अपने घर ले जाती हैं। कहना न होगा कि यही महिला श्रीमती हेल हैं जिन्हें स्वामीजी ने 'माँ' कहकर सम्बोधित किया था और जो वास्तव में स्वामीजी के लिए माँ ही बन गयी थीं। श्रीमती हेल के माध्यम से ही स्वामीजी का परिचय धर्मसभा के अधिकारियों से

हुआ और वे धर्ममहासभा में भाग लेने में समर्थ हुए।

इस तरह अमेरिका में स्वामीजी को पग पग पर वहाँ की महिलाओं से सहायता मिली। उन्होंने उनके प्रति अपनी कृतज्ञता भी अनेक बार ज्ञापित की है जिसका आभास हमें खेतड़ी के महाराजा को लिखित उनके एक पत्र से मिलता है। " ..अमेरिकन महिलाओ! सौ जन्म में भी मैं तुमसे उऋण न हो सकूँगा। मेरे पास तुम्हारे प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने की भाषा नहीं है। 'प्राच्य अतिशयोक्ति' ही प्राच्यवासी मानवों की आन्तरिक कृतज्ञता प्रकट करने की एकमात्र भाषा है– यदि समुद्र मसि-पात्र हो और हिमालय पर्वत मसि, यदि पारिजात वृक्ष की शाखा लेखनी बने तथा पृथ्वी कागज, और यदि साक्षात् सरस्वती स्वयं लेखिका बनकर अनन्त काल तक लिखती रहे, फिर भी तुम्हारे प्रति मेरी कृतज्ञता प्रकट करने में ये सब समर्थ न हो सकेंगे!

"गत वर्ष ग्रीष्म में दूर देश से नाम-यश-धन-विद्या-विहीन, बन्धुरहित, असहाय दशा में, प्रायः खाली हाथ, जब मैं एक परिव्राजक प्रचारक के रूप में इस देश में आया, उस समय अमेरिका की महिलाओं ने मेरी सहायता की, मेरे ठहरने तथा भोजन की व्यवस्था की, वे मुझे अपने घर ले गयीं तथा उन्होंने मेरे साथ अपने पुत्र तथा सहोदर जैसा बर्ताव किया।। जब उनके पुरोहितों ने इस 'भयानक विधर्मी' को त्याग देने के लिए उन्हें बाध्य करना चाहा, जब उनके अन्तरंग बन्धु उन्हें इस

'सन्दिग्ध और भयानक चरित्र वाले अपरिचित विदेशी व्यक्ति' का संग छोड़ने के लिये उपदेश देने लगे, तब भी वे मेरी मित्र बनी रहीं।"

स्वामीजो के श्रीमुख से वेदान्त की वाणी सुनकर यद्यपि पाश्चात्य जगत के प्राय: सभी शिक्षित व्यक्ति प्रभावित हुए थे, तथापि वहाँ ग्रीनएक नामक स्थान में स्वतंत्र रूप से सर्वप्रथम वेदान्त केन्द्र स्थापित करने का श्रेय मिस फार्मर को ही था।

न्यूयार्क की विदुषी महिला मिस एस. एलेन वैल्डो ने स्वामीजी से प्रभावित होकर उनका शिष्यत्व ग्रहण किया और उन्हीं की सहायता से 'राजयोग' तथा 'देव-वाणी' नामक स्वामीजी के दो विश्वप्रसिद्ध ग्रन्थ लिपि-बद्ध हो सके थे।

सन् १८९५ के प्रारम्भ में जब स्वामीजी की इच्छा किसी निर्जन स्थान में वास करते हुए, कुछ आध्यात्मिक साधन–सम्पन्न शिष्य तैयार करने की हुई, उस समय इस कार्य में सहायता के लिए एक नारी ही सामने आती है। मिस डीचर नामक महिला ने सेण्ट लारेन्स नदी के तट पर स्थित अपना भवन स्वामीजी को इस कार्य हेतु दे दिया। स्वामीजी ने इस भवन में बारह शिष्यों के साथ छः सप्ताह तक निवास किया था। यहीं वास करते हुए उन्होंने 'Song of the Sannyasin' (संन्यासी का गीत) नामक कविता की रचना की थी।

श्रीमती ओली बुल, जिन्हें हम धीरामाता के नाम

से जानते हैं, ने स्वामीजी की परिकल्पना को कार्यरूप में परिणत करने के लिए विपुल आर्थिक सहायता प्रदान की थी।

मिसेस फांकी एवं कृष्टिन स्वामीजी के प्रति विशेष श्रद्धा रखती थीं। एक बार उन्होंने स्वामीजी से कहा था, "यदि भगवान् ईसा आज पृथ्वी पर होते तो जिस मनोभाव से हम उनके पास उपदेश ग्रहण करने जातीं, ठीक उसी मनोभाव से आज हम आपके समक्ष उपस्थित हुई हैं।" इनमें से मिस कृष्टिन ने तो, परवर्ती काल में, स्वामीजी की परिकल्पना में भाग लेने हेतु अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया था तथा कलकत्ता के बागबाजार में स्थित सिस्टर निवेदिता स्कूल का दायित्वपूर्ण कार्य बहुत दिनों तक सम्हाला था।

उद्बोधन पत्रिका के प्रथम प्रकाशन के लिए मिस मैकलाउड ने आठ सौ डालर की राशि प्रदान की थी।

लन्दन में पहलीबार स्वामीजी का आगमन एक नारी के ही आमंत्रण पर होता है। मिस हेनरियटा मूलर ने स्वामीजी को वेदान्त प्रचार के लिये लन्दन आमंत्रित किया था। वहीं उनकी भेंट सर्वतोमुखी प्रतिभासम्पन्न मिस मार्गरेट नोवल से होती है। आयरिश बाला मिस नोबल स्वामीजी के कार्यों के लिए आत्मोत्सर्ग कर किस तरह भगिनी निवेदिता बनीं और अपने जीवन को भारत के कल्याण के लिए न्यौछावर कर दिया, यह सर्वविदित ही है। स्वामीजी ने उनके

लिए एक स्थान पर कहा है– "She is the finest flower of my work in England." (वह मेरे इँग्लैण्ड में हुए कार्य का सर्वश्रेष्ठ सुमन है ।)

सैन्फ्रान्सिस्को में मिसेस् आलान ने अपना जीवन वेदान्त समिति के कार्य के लिए उत्सर्ग किया था। यहीं मिस आइडा ने स्वामीजी की वेदान्त सम्बन्धी तेरह वक्तृताओं को सर्वप्रथम प्रकाशित किया था ।

वर्तमान बेलुड़ मठ की भूमि मिस हेनरियटा मूलर द्वारा प्रदत्त राशि से खरीदी गयी थी । इतना ही नहीं, वहाँ सर्वप्रथम वास करने का सौभाग्य भी महिलाओं को ही मिला था । मिसेस ओली बुल ने बेलुड़ मठ के नवीन ठाकुर-घर के निर्माण में आर्थिक सहायता प्रदान की थी । इस ठाकुर घर को आजकल 'पुराना मन्दिर' कहा जाता है ।

यद्यपि बेलुड़ मठ के भव्य रामकृष्ण मन्दिर की परिकल्पना स्वामी विवेकानन्द ने की थी, पर आर्थिक अभाव के कारण उनके रहते मन्दिर का निर्माण नहीं हो पाया था । मिस रूबेल नामक अमरीकन महिला ने मन्दिर-निर्माण के लिए कई लाख रुपये दान कर स्वामीजी की अभिलाषा पूर्ण करने में सहायता की थी।

इस तरह युगोपयोगी नवधर्म के उद्बोधन में, उसे सुरक्षित रखने में, उसके प्रचार में तथा उसे प्रतिष्ठित करने में नारियों ने जो सहयोग दिया, उससे स्वयं स्वामी विवेकानन्द बहुत अधिक प्रभावित हुए थे । उस समय

उन्होंने एक दिव्य स्वप्न देखा था–"मैं अपने मनश्चक्षुओं से यह स्पष्ट देख रहा हूँ कि यदि भारतीय नारी भारतीय पोशाक में भारत के ऋषियों के मुख से निःसृत धर्म का प्रचार करें तो एक महान् तरंग उठेगी जो सारे पश्चिम को प्लावित कर देगी।"

सम्भवतः इसी भाव में विभोर हो स्वामीजी ने अपने गुरुभाई स्वामी शिवानन्द को विदेश से पत्र लिखा था, "माँ, (माँ सारदा) के जीवन का विलक्षण महत्त्व तुम लोग अभी नहीं समझ सके हो, तुममें से एक भी नहीं...। किन्तु धीरे धीरे तुम जानोगे। शक्ति के बिना संसार का उद्धार नहीं हो सकता। क्या कारण है कि संसार के सब देशों में हमारा देश ही सबसे अधिक बलहीन है? इसका अर्थ यही है कि वहाँ शक्ति का निरादर होता है। उसी अनुपम शक्ति को भारत में पुनः जाग्रत् करने के लिए माँ का जन्म हुआ है, और उन्हें केन्द्र बनाकर एक बार फिर से गार्गी और मैत्रेयी जैसी नारियों का जन्म संसार में होगा। प्रिय भाई, अभी तुम बहुत थोड़ा समझते हो, परन्तु धीरे धीरे तुम सब जान पाओगे। इसीलिये मैं उनका मठ पहले चाहता हूँ...। शक्ति की कृपा बिना कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। मेरी अन्तर्दृष्टि का धीरे धीरे विकास हो रहा है। हमें माँ का मठ पहले बनाना चाहिये। पहले माँ और उनकी पुत्रियाँ; फिर पिता और उनके पुत्र...। क्या तुम यह समझ सकते हो? ... मेरे लिए माँ की कृपा पिता की

कृपा से लाख गुनी अधिक मूल्यवान् है !"

सत्यद्रष्टा स्वामीजी का स्वप्न भला कैसे असत्य हो सकता था ? तभी तो आज भारत में ही क्यों, विदेशों में भी विद्यारूपिणी माँ सारदा देवी को केन्द्र बनाकर कितने ही स्त्री मठ स्थापित हो चुके हैं। इन मठों में कितनी ही भारतीय महिलाएँ आत्मोसर्ग, आध्यात्मिकता एवं आत्मसंयम के मंत्र में दीक्षित हो, सेवाधर्म को प्रधान व्रत मान, भारतीय धर्म के प्रचार में लगी हुई हैं।

हम सव भारतीय नारी इसके लिए कितना गौरव अनुभव करती हैं। पर क्या गौरव करने तक ही हमारा कर्त्तव्य सीमित रहेगा ?

●

पावित्र्य और सतीत्व तो भारतीय नारी की वह वहुमूल्य निधि है जो उसे अतीत काल से परम्परा से प्राप्त हुई है। इसलिये स्वभावतः वह उसे समझती है। सर्वप्रथम हमें उनमें इस आदर्श के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा और भक्ति उत्पन्न करनी चाहिए। यदि वे इस आदर्श पर दृढ़ हो गयीं, तो इसके फलस्वरूप उनका चरित्र इतना बलवान और दृढ़ होगा कि उसके प्रभाव से वे अपने प्राणों की आहुति देकर भी अपने पावित्र्य एवं सतीत्व की रक्षा करना अपना धर्म समझेंगी — चाहे वे विवाहित हों अथवा अविवाहित रहने का ध्रुव-संकल्प धारण किये हों।

— स्वामी विवेकानन्द

बिन गुरु कृपा-ज्ञान नहि होई

संतोष कुमार झा

महर्षि आयोध धौम्य अपने आश्रम के सामने शान्त भाव से बैठे थे। एक किशोर ब्राह्मण कुमार ने आकर प्रणाम किया। उन्होंने उसे आशीर्वाद दिया और उसका परिचय पूछा। किशोर ने अपना परिचय दिया तथा स्वयं को शिष्य रूप में स्वीकार करने की प्रार्थना की। आचार्य ने उसे आश्रम में रखना स्वीकार कर लिया। वह मेधावी बालक शीघ्र ही आश्रम के अन्य विद्यार्थियों से हिलमिल गया।

कुछ दिनों पश्चात् आचार्य ने इस नये विद्यार्थी को बुलाया और कहा, "बेटा उपमन्यु! आज से तुम्हें आश्रम की गौओं को वन में ले जाकर चराने का उत्तरदायित्व सौंपा जाता है। तुम प्रतिदिन प्रातःकाल गौओं को लेकर वन में जाना और सायंकाल उन्हें लौटा कर ले आया करना।"

उपमन्यु ने गुरुदेव के चरणों में प्रणाम कर आज्ञा शिरोधार्य कर ली। वह प्रतिदिन प्रातःकाल आश्रम की गायों को लेकर वन में जाता। वहाँ उन्हें चरने के लिए छोड़कर स्वयं आसपास के ग्रामों में जाता और भिक्षा द्वारा अपना निर्वाह करता।

एक दिन सदैव की भाँति जब उसने आचार्य को प्रणाम किया तब उन्होंने उससे पूछा, "वत्स! तुम

अपनी जीविका कैसे चलाते हो ?"

उपमन्यु ने निवेदन किया, "भगवन्! समीप के ग्रामों से भिक्षा प्राप्त कर मैं अपनी जीविका चलाता हूँ।"

आचार्य ने उसे आदेश दिया, "मुझे अर्पित किये बिना प्राप्त भिक्षा का उपभोग तुम्हारे लिए उचित नहीं है। तुम्हें जो भी भिक्षा मिले वह मुझे अर्पित कर दिया करो।"

उपमन्यु ने आज्ञा की स्वीकृति में आचार्य के चरण छुए। अब उसे जो भी भिक्षा मिलती उसे वह आचार्य की सेवा में अर्पित कर देता। आचार्य उसे उसमें का कुछ भी अंश न देते। उपमन्यु भी उनसे कुछ न माँगता।

कुछ दिन इसी प्रकार बीते। एक दिन पुनः आचार्य ने उससे पूछा, "बेटा ! तुम भिक्षा का सम्पूर्ण भाग मुझे दे देते हो, फिर तुम्हारी जीविका कैसे चलती है ?"

उपमन्यु ने सविनय निवेदन किया, "गुरुदेव! मैं अपने लिए दूसरी बार भिक्षा प्राप्त कर लेता हूँ।"

आचार्य ने कहा, "वत्स ! यह तुम्हारे लिए उचित नहीं है। इस प्रकार तुम अन्य भिक्षार्थियों का भाग प्राप्त कर उन्हें भिक्षा से वंचित कर देते हो। तुम्हें दूसरी बार भिक्षा के लिए नहीं जाना चाहिए।"

उपमन्यु ने गुरु की आज्ञा शिरोधार्य की। अब वह ग्रामों में दूसरी बार भिक्षा लेने के लिए न जाता।

कुछ दिन और बीत गए। एक दिन आचार्य ने उपमन्यु से पुनः वही प्रश्न पूछा, "वत्स ! तुम भिक्षा का सभी अंश मुझे दे देते हो। ग्रामों में दूसरी बार भिक्षाटन

भी नहीं करते। फिर तुम्हारी जीविका कैसे चलती है?"

उपमन्यु ने सनम्र निवेदन किया, "भगवन्! मैं आश्रम की गायों का दूध पीकर अपनी जीविका चलाता हूँ।"

आचार्य ने कहा, "वत्स! ये गायें गुरुकुल की हैं। उनके दूध पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं है। अतः तुम्हें उनका दूध नहीं पीना चाहिए।"

उपमन्यु ने गुरुदेव की आज्ञा शिरोधार्य की और पुनः अपने कार्य में लग गया।

कुछ दिन और बीतने पर आचार्य ने पुनः उपमन्यु को बुलाया और उससे पूछा, "वत्स! तुम भिक्षा का सब भाग मुझे दे देते हो, दूसरी बार भिक्षा भी नहीं करते, गायों का दूध भी नहीं पीते, फिर तुम्हारी जीविका कैसे चलती है?"

उपमन्यु ने कहा, "आचार्यप्रवर! जब मैं वन में गायें चराता रहता हूँ, उस समय कुछ बछड़े अपनी माताओं के थनों से दूध पीते हैं। तब उनके मुँहों से फेन निकलती है। मैं उसी फेन को चाटकर अपनी क्षुधा शान्त करता हूँ।"

आचार्य ने कहा, "वत्स! तुम्हें बछड़ों के मुँह से गिरनेवाला फेन नहीं खाना चाहिए।"

उपमन्यु ने गुरु की आज्ञा स्वीकार कर ली। वह वन में गायों को चराने ले गया। किन्तु गुरु की आज्ञा के कारण न तो उसने दूसरी बार भिक्षा माँगी, न गायों का दूध पिया, न फेन ही चाटा। एक दिन बीता, दूसरा

दिन बीता। अब उपमन्यु भूख से व्याकुल होने लगा।

अन्ततः उसकी व्याकुलता असह्य हो गयी। भूख की पीड़ा से बचने के लिए उसने आक के पत्ते चबा लिए। उन पत्तों के विष से उसकी नेत्र ज्योति जाती रही। वह अन्धा हो गया। अन्धा उपमन्यु व्याकुल होकर वन में भटकने लगा। उस वन में एक सूखा कुआँ था। उपमन्यु उस कुएँ में गिर पड़ा। गिरकर कुछ क्षणों के लिए वह अचेत हो गया। जब उसकी चेतना लौटी तब उसने अपने आप को एक सूखे कुएँ में पाया। वह बड़ा दुखी हुआ। दुख तथा विपत्ति के इन क्षणों में उसने मन ही मन गुरुदेव से कृपा करने की प्रार्थना की।

सन्ध्या हुई। सभी शिष्यों ने सन्ध्यावन्दन के पश्चात् पूज्य आचार्य को प्रणाम किया। किन्तु उपमन्यु नहीं आया। आचार्य ने शिष्यों से पूछा, "उपमन्यु कहाँ है?"

एक शिष्य ने निवेदन किया, "भगवन्! उपमन्यु आज वन से ही लौटकर नहीं आया है।"

आचार्य चिन्तित हुए। उन्होंने शिष्यों से कहा, "चलो, हम सब वन में उपमन्यु की खोज करने चलें।"

आचार्य के आदेशानुसार सभी शिष्य उनके साथ मशाल आदि लेकर उपमन्यु की खोज में वन को गये। वहाँ आचार्य उसका नाम ले-लेकर पुकारने लगे।

कुएँ में पड़े उपमन्यु ने अपने पूज्य आचार्य का कण्ठ स्वर सुना। प्रत्युत्तर में कुएँ में से उसने कहा, "गुरुदेव! मैं यहाँ इस सूखे कुएँ में पड़ा हूँ।"

उपमन्यु की आवाज सुनकर सभी उस सूखे कुएँ के पास पहुँचे। गुरुदेव के पूछने पर उपमन्यु ने अपने उस कुएँ में गिर पड़ने का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। आचार्य की आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी। उन्होंने अपने आज्ञाकारी शिष्य को साम्त्वना दी और उससे वैदिक ऋचाओं द्वारा देवभिषज अश्विनी कुमारों की स्तुति करने को कहा। गुरु की आज्ञानुसार उसने वन्दना की। उसकी स्तुति से प्रसन्न हो देवभिषज वहाँ उपस्थित हुए और उन्होंने उपमन्यु से कहा, "उपमन्यु ! हम तुम्हारी स्तुति से प्रसन्न हैं। तुम यह पूआ खा लो। इसके खाने पर तुम्हारी नेत्रज्योति लौट आयेगी तथा तुम पूर्ण स्वस्थ हो जाओगे।"

उपमन्यु ने कहा, "देवभिषजो ! आपकी कृपा के लिए मैं कृतज्ञ हूँ। किन्तु मेरा यह नियम है कि मुझे मिली प्रत्येक वस्तु मैं अपने गुरुदेव के चरणों में अर्पित कर देता हूँ तथा उनकी आज्ञानुसार ही कार्य करता हूँ। अतः यह पूआ भी मैं उनके श्रीचरणों में ही अर्पित करता हूँ। मैं उनकी आज्ञा के बिना इसे नहीं खा सकता।"

उसकी गुरुभक्ति देखकर देवभिषज अवाक् रह गये। उन्होंने उसे गले से लगा लिया। महर्षि धौम्य भी अपने शिष्य की भक्ति देखकर गद्‌गद् हो उठे। उन्होंने देव वैद्यों से उपमन्यु को नेत्रज्योति देने की प्रार्थना की। उनकी कृपा से उपमन्यु को तुरन्त नेत्रज्योति प्राप्त हो गयी। गुरुदेव ने उसे वेदवेदांगों में पारंगत होकर ब्रह्म-

ज्ञानी होने का वरदान दिया। गुरु कृपा से उपमन्यु ब्रह्मज्ञानी हुए।

संसार का प्रत्येक साधक उपमन्यु है। आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता के लिए गुरु की आज्ञा का पालन अनिवार्य है। वस्तुतः परमात्मा ही गुरु के रूप में प्रकट होते हैं। गुरु ठीक ठीक जानते हैं कि शिष्य का परम कल्याण किसमें है। उनके विधान में, सम्भव है, प्रत्यक्षतः शिष्य को कष्ट की अनुभूति हो, किन्तु परोक्ष में उस कष्ट के पीछे भी शिष्य का परम मंगल ही निहित रहता है। कष्टों एवं विपत्तियों से शिष्य का चित्त शुद्ध होता है और उसका पुरुषार्थ प्रकट होता है, उसका आत्मविश्वास बढ़ता है, उसकी ईश्वर निर्भरता अचल होती है और उसके अहंकार का नाश होता है। इस प्रकार जब शिष्य का अहंकार निर्मूल हो जाता है तब उस पर गुरु की भरपूर कृपा होती है। वास्तव में गुरु की कृपा से ही ज्ञान प्राप्त होता है। आध्यात्मिक जीवन का प्रथम सोपान गुरुभक्ति है। गुरुभक्ति वह जहाज है जो कि हमें संसार-सागर के पार उतारने में सहायक होता है।

कबिरा ते नर अन्ध हैं गुरु को कहते और।
हरि रूठे गुरु ठौर है गुरु रूठे नहि ठौर॥

– कबीर

प्रश्न– भगवान् श्रीरामकृष्ण देव ने कहा है कि कोई अगर भगवान् के लिए तीन दिन और तीन रात रो ले, तो उनके दर्शन हो सकते हैं। उनकी इस उक्ति का आशय क्या है? इस प्रकार की आकुलता कैसे लाई जा सकती है?

– श्रीमती गंगा हेमानी, जयपुर

उत्तर– श्रीरामकृष्ण का तात्पर्य है भगवान् को पाने की आकुलता से। उन्होंने स्थान स्थान पर ईश्वरीय विकलता को भगवद्दर्शन का सर्वश्रेष्ठ साधन माना है। जैसे हम संसार में विषय भोगों की प्राप्ति के लिए तथा उनके बिछुड़ जाने से आकुल होते हैं, उसी प्रकार हम यह सोचकर आकुल हो सकें कि 'हे ईश्वर, तुम्हारे दर्शन नहीं हुए, तुम्हारी प्राप्ति नहीं हुई', तो ईश्वर की कृपा होती है। तात्पर्य यह है कि ईश्वर के लिए हृदय में चाह उपजे। संसार की अन्य वस्तुओं के लिए जैसे चाह होती है उसी प्रकार की चाह अगर प्रभु के लिए हो, तो वे दर्शन देते हैं। ऐसी दैवी विकलता हममें आ गयी तो हम ईश्वर के दर्शन के लिए बिसूरते हैं। यदि हमारा प्रिय परिजन काल-कवलित हो जाय, तो महीनों हमारी आँखों में आँसू नहीं सूखते। इसीप्रकार ईश्वर के बिछोह में हम तड़प सकें और सचमुच तीन दिन और तीन रात उस बिछोह के आँसू न सूखें, तो श्रीरामकृष्ण

का दावा है कि हमें प्रभु के दर्शन होंगे।

इस विकलता को बढ़ाने का साधन है– विवेक-बुद्धि, जो हमें यह बतलाये कि प्रभु ही हमारे एकमात्र चिरन्तन प्रेमास्पद हैं। ससार के प्रेमी तो सभी के सभी नश्वर हैं। कोई भी हमारा प्रियजन हमारे साथ सदैव के लिये नहीं रहेगा। पर ईश्वर ही ऐसे हैं जो जन्म से पूर्व हमारे साथ थे, वर्तमान में भी उन्हीं की सत्ता में हम जीवित हैं और मृत्यु के उपरान्त भी वे हमारे अपने बने रहेंगे– जब, इस प्रकार का तीव्र अपनाया उनके प्रति आता है, तब उनके प्रति प्रेम बढ़ता है और तब उनका बिछोह हमें पीड़ित करता है। इसी भाव को तीव्र करने से आकुलता बढ़ती है।

प्रश्न– संसार में रहकर क्या साधना हो सकती है?

– कु. हेमलता शुक्ल, इन्दौर

उत्तर– क्यों नहीं! यदि हमारा दृष्टिकोण उचित हो तो संसारके कार्य ही हमारे लिये साधना बन जाते हैं। यदि हमने संसार के कार्यों को सामान्य दृष्टि से न देखकर यह सोचा कि वही मेरे लिए उस प्रभु को पाने की साधना है, तो आश्चर्यजनक रूप से उन्हीं कार्यों में उदात्तता आ जाती है। उचित दृष्टिकोण हो पाया या नहीं, इसके दो लक्षण हैं– (१) जो भी कार्य हम करेंगे, उसे बड़ी लगन से करेंगे। उसमें किसी प्रकार का टाल-मटोल का भाव न होगा। हमारी कार्यक्षमता बढ़ जायगी। (२) साथ ही उन कार्यों के प्रति एक प्रकार की निर्लिप्तता हमारे मन में जन्म ले लेगी। पहले हम कर्मों के द्वारा उद्वेलित हो जाते थे, पर साधना का भाव बनाकर कार्य करने से मन का उद्वेलन कम होगा। क्रमशः इससे 'कर्मयोग' में हमारी प्रतिष्ठा हो जायगी।

●

लेखक-परिचय

- ब्रह्मलीन श्रीमत् स्वामी यतीश्वरानन्दजी महाराज रामकृष्ण मठ और मिशन के उपाध्यक्ष थे।
- डा. नरेन्द्रदेव वर्मा, एम. ए., पीएच. डी., रायपुर के शासकीय संस्कृत स्नातकोत्तर महाविद्यालय में असिस्टेंट प्रोफसर हैं।
- स्वर्गीय साधु टी. एल. वासवानी जब मात्र कुछ महीने के शिशु थे तब इनके माता-पिता इन्हें लेकर दक्षिणेश्वर गये थे और वहाँ श्रीरामकृष्ण की गोद में इन्हें लिटा दिया था। श्रीरामकृष्ण देव का वह पावन और दिव्य संस्पर्श साधु वासवानी जीवन भर अनुभव करते रहे। वे बहुत वर्षों तक पूना से निकलने वाली स्वस्थापित 'मीरा' अंग्रेजी मासिक पत्रिका के सम्पादक रहे। उपर्युक्त लेख 'मीरा' में ही प्रकाशित हुआ था।
- स्वामी शाम्भवानन्द मैसूर स्थित रामकृष्ण आश्रम के अध्यक्ष हैं।
- ब्रह्मचारी महेश दिल्ली स्थित रामकृष्ण मिशन के अन्तेवासी हैं और सम्प्रति बेलुड़ मठ के प्रशिक्षण केन्द्र में प्रशिक्षार्थी हैं।
- डा. प्रणव कुमार बनर्जी पेण्ड्रा में होमियोपैथिक चिकित्सक हैं।
- श्री शार्दूल कविया राजकीय शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालय, खेतड़ी (राजस्थान) के प्रधानाध्यापक हैं।
- श्री शरद् चन्द्र पेंढारकर रायपुर के डाक और तार विभाग में लिपिक हैं।
- श्री देवेन्द्र कुमार वर्मा, एम. एससी., रायपुर के शासकीय विज्ञान स्नातकोत्तर महाविद्यालय में गणित के प्राध्यापक हैं।
- डा. अशोक कुमार बोरदिया, एम. डी., आश्रम के विवेकानन्द धर्मार्थ औषधालय के ऐलोपैथी विभाग के मानसेवी प्रमुख चिकित्सक हैं।
- कु. अजिता चटर्जी, एम. एससी., लाहिड़ी उपाधि महाविद्यालय में रसायनशास्त्र की प्राध्यापिका हैं।
- श्री सन्तोष कुमार झा, एम. ए., एलएल. बी., स्थानीय पंचायती राज प्रशिक्षण केन्द्र के प्राचार्य हैं तथा 'विवेक-ज्योति' के सह-सम्पादक हैं।

आश्रम समाचार

(१ सितम्बर १९६८ से ३० नवम्बर १९६८ तक)

विवेकानन्द धर्मार्थ औषधालय

इस औषधालय के ऐलोपैथी विभाग में १६ नवम्बर, १९६८ को 'नगर स्वास्थ्य केन्द्र' नाम से एक नयी इकाई स्थापित की गयी है। यह केन्द्र स्थानीय मेडिकल कॉलेज के 'प्रिवेन्टिभ एवं सोशल मेडिसिन' विभाग द्वारा खोला गया है। इसके अन्तर्गत प्रति शनिवार १० से १२ बजे दिन तक निम्नलिखित सुविधाएँ जनसाधारण के लिए प्रदान की गयी हैं:-

(१) स्त्री-रोगों की जाँच के लिए स्त्रीरोग-विशेषज्ञ लेडी डाक्टर।

(२) शिशु-रोगों की जाँच के लिए शिशुरोग-विशेषज्ञ डाक्टर।

(३) निःशुल्क सभी प्रकार के टीके और इंजेक्शन ।

साप्ताहिक सत्संग

रविवासरीय गीता-प्रवचनमाला के अन्तर्गत स्वामी आत्मानन्द ने आलोच्य अवधि में १, ८, १५, २२ सितम्बर, ६, २०, २७ अक्तूबर तथा ३, १७, २४ नवम्बर को प्रवचन दिया और इस प्रकार अब तक वे गीता पर ४६ प्रवचन कर चुके हैं। अभी तक गीता के दूसरे अध्याय के ४४ वें श्लोक तक चर्चा हो पायी है।

२९ सितम्बर, १३ अक्तूबर और १० नवम्बर को श्री प्रेमचन्द जैन की रामायण पर सरस कथा हुई।

गुरुवासरीय सत्संग के अन्तर्गत ५ सितम्बर और २८ नवम्बर को श्री सन्तोष कुमार झा का 'श्रीरामकृष्ण वचनामृत' पर, १२, १९ सितम्बर, ३, १०, १७, २४ अक्तूबर, ७, २१ नवम्बर को डा० अशोक कुमार बोरदिया का 'पातंजल योगसूत्र' पर, तथा

२६ सितम्बर, ३१ अक्तूबर और १४ नवम्बर को प्राध्यापक देवेन्द्र कुमार वर्मा का 'हिन्दू धर्म' पर प्रवचन हुआ।

आश्रम में अन्य कार्यक्रम

२० सितम्बर को महन्त लक्ष्मीनारायण दास जी की अध्यक्षता में कन्याकुमारी में बन रहे विवेकानन्द स्मारक हेतु रायपुर जिला विवेकानन्द शिला स्मारक समिति के तत्वावधान में एक सार्वजनिक सभा हुई। रायपुर के जिलाधीश श्री आचार्य प्रमुख अतिथि थे। स्वामी आत्मानन्द ने इस अवसर पर विवेकानन्द शिला के महत्व पर प्रेरणादायी व्याख्यान दिया।

३० अक्तूबर को अंग्रेजी मासिक पत्र 'मिरर' के सम्पादक श्री एम. डी. जाफेट का 'Our Three Great Needs: Values, Reality and Faith' इस विषय पर सारगर्भित व्याख्यान हुआ। डा० वा. वा. पाटणकर ने इस सभा की अध्यक्षता की।

स्वामी आत्मानन्द के अन्यत्र कार्यक्रम

२ सितम्बर को स्वामीजी अकलतरा (बिलासपुर) गये। वहाँ छः दिवसीय व्याख्यानमाला के अन्तर्गत उनका पहला व्याख्यान 'श्रीरामकृष्ण—जीवन और सन्देश' पर हुआ। ३ सितम्बर को दिन में खरौद में महाविद्यालय के छात्रसंघ का उद्घाटन किया और रात्रि को अकलतरा में 'स्वामी विवेकानन्द—जीवन और सन्देश' पर बोले। ४ को जांजगीर के बी. टी. आई. में 'स्वामी विवेकानन्द और राष्ट्र' पर तथा अकलतरा में रात्रि को 'क्रान्तिकारी कृष्ण' पर। ५ को 'शिक्षक दिवस' के उपलक्ष में पामगढ़ में 'स्वतन्त्र भारत में शिक्षकों का दायित्व' पर, तथा रात्रि को अकलतरा में 'नारदीय भक्ति' पर। ६ को बलौदा में 'जीवन में धर्म को स्थान' पर तथा रात्रि को अकलतरा में 'नारी

धर्म' पर। ७ को अकलतरा का अन्तिम व्याख्यान 'मानव जीवन का प्रयोजन' पर दिया। दूर दूर से स्पेशल बसों द्वारा जनता इन भाषणों में आया करती थी।

१४ सितम्बर को जबलपुर में विवेकानन्द शिला स्मारक कार्यक्रम के प्रमुख अतिथि रहे। मध्यप्रदेश चीफ जस्टिस की पत्नी श्रीमती दीक्षित ने इस कार्यक्रम की अध्यक्षता की। १५ सितम्बर को भिलाई में जनरल मैनेजर श्री जी. जगत्पति की अध्यक्षता में स्वामीजी ने स्थानीय रामकृष्ण सेवा मंडल का उद्घाटन किया। २१ सितम्बर को दुर्ग में श्री घनश्याम सिंह गुप्त की अध्यक्षता तथा जिलाधीश श्री बल्लाल की उपस्थिति में उन्होंने शिला-स्मारक निधि-संग्रह अभियान का उद्घाटन किया।

२४ सितम्बर को स्वामीजी इन्दौर में थे। वहाँ रामकृष्ण आश्रम में २४ को 'धर्म और व्यक्ति', २५ को 'धर्म और राष्ट्र' तथा २६ को 'धर्म और विश्व' इस प्रकार तीन व्याख्यान दिये। २५ को सुबह रवीन्द्र नगर में 'धर्म का व्यवहार' पर, २६ को शासकीय कन्या महाविद्यालय की दर्शन समिति की ओर से 'दर्शन और आधुनिक विज्ञान' पर, तथा उसी दिन अपराह्न दैनिक पत्र 'स्वदेश' के कार्यालय में 'जीवन का प्रयोजन' पर सारगर्भित भाषण दिया।

२८ सितम्बर को भोपाल में पंचायत मंत्री श्री महेन्द्रसिंह किलेदार को अध्यक्षता में 'विवेकानन्द-शिला-स्मारक' कार्यकम में प्रमुख अतिथि रहे।

४ अक्तूबर को भिलाई में जनरल मैनेजर श्री जी. जगत्पति की अध्यक्षता में शिला-स्मारक कार्यक्रम में प्रमुख अतिथि। ५ अक्तूबर को बिलासपुर में श्री चितले की अध्यक्षता और जिलाधीश श्री हीरजी की उपस्थिति में यही कार्यक्रम। १९ अक्तूबर को भिलाई ग्राम में सहकारी समिति भवन का उद्घाटन।

शिला-स्मारक कार्यक्रम के निमित्त २८ अक्तूबर को बागबाहरा, महासमुन्द और आरंग; २९ को खरोरा, बलौदाबाजार और भाटापारा; ३० को कवर्धा और बेमेतरा; १ नवम्बर को कुरुद, कोंडागांव और जगदलपुर; २ नवम्बर को कांकेर और बालोद।

४ नवम्बर को रायगढ़ में अन्तर्राष्ट्रीय योग सम्मेलन में 'योग और आदर्श शिक्षा' पर युक्तियुक्त और सारगर्भित व्याख्यान दिया। ५ नवम्बर को शिला-स्मारक निमित्त बैतूल के 'भारत-भारती' शिक्षा-संस्थान में तथा रात्रि को जिलाधीश श्री राजपूत की अध्यक्षता में सार्वजनिक सभा को सम्बोधित किया। ६ नवम्बर को भोपाल में रामकृष्ण आश्रम, गीता समिति तथा शिला-स्मारक समिति के सम्मिलित तत्वावधान में आयोजित सभा को वित्त मन्त्री श्री वसन्तराव प्रधान की अध्यक्षता में 'धर्म और राष्ट्र' विषय पर सम्बोधित किया। ७ नवम्बर इन्दौर में को लोक सेवा आयोग के सदस्य श्री मेहता की अध्यक्षता में स्वामीजी शिला-स्मारक कार्यक्रम के प्रमुख अतिथि रहे। ८ नवम्बर को मन्दसौर में नगरपालिका की ओर से आयोजित मेले में 'धर्म' पर बोले। ९ को वहीं नगरपालिका भवन में 'धर्म का वैज्ञानिक स्वरूप' पर, तदनन्तर पशुपतिनाथ मन्दिर में 'धर्म' पर तथा पुनः रात्रि को मेले में 'धर्म' पर।

१० नवम्बर को स्वामीजी ने अजमेर में रामकृष्ण आश्रम की ओर से आयोजित सभा के समक्ष नगर के टाउन हाल में 'विज्ञान के युग में धर्म का भविष्य' इस विषय पर अत्यन्त प्रभावशाली व्याख्यान दिया। राजस्थान एजुकेशन बोर्ड के चेयरमेन श्री के. एल. बोरदिया ने कार्यक्रम की अध्यक्षता की।

१३, १४, १५, नवम्बर को स्वामीजी ने मुजफ्फरपुर (बिहार) में 'जीवन का प्रयोजन' विषय लेकर तीन व्याख्यान दिये।

१८ नवम्बर को उन्होंने रायपुर संभागीय पंचायत व समाज शिक्षा संगठक परिसंवाद का उद्घाटन किया। २० नवम्बर को रायपुर के दुर्गा महाविद्यालय के विवेकानन्द छात्रावास के छात्र-संघ का उद्घाटन। २२ नवम्बर को रायगढ़ में जिलाधीश श्री ए. के. बनर्जी की अध्यक्षता में शिला-स्मारक कार्यक्रम के प्रमुख अतिथि रहे। २३ को राजनाँदगाँव और डोंगरगढ में शिला-स्मारक कार्यक्रम में भाग लिया।

२५ से २९ नवम्बर तक पाँच दिन स्वामीजी ने नागपुर में 'आनन्द-निकेतन' के तत्वावधान में युनिवर्सिटी कन्वोकेशन हाल में 'ईशावास्योपनिषद्' पर पाँच व्याख्यान दिये। पहले दिन के कार्यक्रम की अध्यक्षता 'नागपुर टाइम्स' अंग्रेजी दैनिक के सम्पादक श्री अनन्त गोपाल शेवड़े ने की।

इसी बीच २६ नवम्बर को उमरेड़ कालियारी में 'कर्मयोग' पर, २८ नवम्बर को नागपुर के रोटरी क्लब में 'फिलासाफी आफ सर्विस' पर, २९ नवम्बर को डी. एजी. पी. टी. के रिक्रियेशन क्लब में 'धर्म और विज्ञान' पर तथा उसी दिन रात्रि ९॥ बजे रामकृष्ण आश्रम में 'धर्म का वैज्ञानिक स्वरूप' पर व्याख्यान दिया। ३० नवम्बर को गुजराती स्कल के तत्वावधान में 'भारतीय संस्कृति में गुरु-शिष्य-परम्परा' पर वे बोले।

विवेकानन्द जयन्ती समारोह

११ जनवरी–भगवान श्रीरामकृष्ण एवं स्वामी विवेकानन्द के जीवन पर परिसंवाद। १२ जनवरी–गीत रामायण व नाटक। १३ जनवरी–स्वर्गस्थ कवि आत्माओं का भूतल आगमन। १४ से २० जनवरी–प० रामकिंकर जी का रामायण प्रवचन। २१ से २५ जनवरी–श्री विरागी जी द्वारा प्रवचन एवं कीर्तन

समय–प्रतिदिन ६ बजे सायं।

फार्म ४ रूल ८ के अनुसार

'विवेक-ज्योति' विषयक ब्योरा

१. प्रकाशन का स्थान	नवभारत प्रिन्टर्स, रायपुर
२. प्रकाशन की नियतकालिता	त्रैमासिक
३. मुद्रक का नाम	स्वामी आत्मानन्द
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर
४. प्रकाशक का नाम	स्वामी आत्मानन्द
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर
५. सम्पादक का नाम	स्वामी आत्मानन्द
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)
६. स्वत्वाधिकारी	रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

मैं, स्वामी आत्मानन्द, घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

(हस्ताक्षर) स्वामी आत्मानन्द

कव्हर चित्र-स्वामी विवेकानन्द केलिफोर्निया, अमेरिका में सन् १९००